विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-4, अंक-22, सितम्बर-अक्तूबर, 1988

मुख्य संपादक
सी०आर०बी०ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय

5 संपादकीय

साक्षात्कार

7 साहित्यकार की स्वाधीन चेतना बिक चुकी है : **रामेश्वर शुक्ल अंचल से नवीन चतुर्वेदी की बातचीत**

मूल्यांकन

13 हिमाचल की हिन्दी कहानी : **सुन्दर लोहिया**

कहानी

24 कालाढांख का मसान : **योगेश्वर शर्मा**
34 फालतू बात : **मालचंद तिवाड़ी**
40 अपंग देश की राजकुमारी : **सुशील कुमार फुल्ल**

भाषांतर : मराठी कहानी

44 जब मैंने जाति चुराई : **बाबूराव बागुल**

कविता

55 दो कविताएं : **प्रताप सहगल**
57 नौ कविताएं : **सत्यपाल सहगल**
63 तीन चितेरे अनेक कविताएं : **अरविन्द रंचन**
66 हंसता है समुद्र : **आनन्द**

देशांतर : कीनिया की कविता

69 काली कविता के प्रमुख कवि : **जोनाथन कारियारा, जान मबिति, ओनयांग ओंगूटू अल्बर्ट ओजुका, एडविन वैंग्राकी, रिचर्ड राइव**
83 मादाम बवुआ और सार्त्र : **अशोक जेरथ**

समीक्षा

87 अपने समय का सच : **श्रीनिवास श्रीकांत**
90 खौफनाक लहरों पर कविता : **पी० सी० के० प्रेम**
92 नारी के रूप : **भरतराम भट्ट**

आयोजन

94 उत्तरक्षेत्रीय नाट्य समारोह : शिमला
95 हिन्दी दिवस समारोह : नाहन

पाठकीय

महेश वर्मा (भोपाल)

इस अंक में शुरू के चारों लेख अपनी-अपनी जगह महत्त्वपूर्ण हैं। बाबू गुलाब राय और रेणु को लेकर क्रमशः सत्येन्द्र शर्मा और अमरेन्द्र मिश्र ने बहुत सार्थक लिखा है। 'साहित्य और प्रगतिवाद' को लेकर डॉ० देवराज का संक्षिप्त कथन विवादास्पद हो सकता है। यह इस दृष्टि से भी कि देवराज जैसे वरिष्ठ लेखक की बात पर पाठक अतिरिक्त ध्यान भी दे सकते हैं। ऐसा लगता है कि देवराज नागार्जुन के कवि को सही संदर्भों में समझने या मानने को तैयार नहीं। इसमें उनके अपने आग्रह भी हो सकते हैं, क्यों कि इस लेख के तेवर शुरू से ही प्रगतिवाद के प्रति कुछ आक्रामक दिखाई देते हैं। अच्छा होता यदि देवराज अपनी बातों को अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट और प्रमाणित कर पाते। इससे उनकी धारणा और खुलकर सामने आती, जिससे उनकी समझ भी पूरी तरह अनावृत होती। सूत्र रूप में कहने से ये टिप्पणियां एक निर्णायक के अंतिम निर्णय जैसी लगतीं हैं। जबकि आलोचना में इस तरह के फैसलों को कोई ऊंचा दर्जा नहीं दिया जाना चाहिए।

सभाष कुमार (दिल्ली)

विपाशा में अनिल जनविजय और बल्गारी कवियों की कविताएं अच्छी हैं लेकिन चतुर सिंह की कविताएं अपना प्रभाव नहीं बनातीं। डॉ० रामदरश मिश्र की उत्तरी कोरिया यात्रा वहां के जीवन और प्राकृतिक सौन्दर्य से साक्षात् कराती है। इस तरह की सामग्री साहित्यिक सुख के साथ ज्ञानवर्धन भी करती है। साहित्यकारों व कलाकारों की यात्रा-कथाएं अवश्य दिया करें। इससे पठनीयता भी बनी रहती है।

अर्चना (चण्डीगढ़)

कला मनीषी सोभा सिंह पर डॉ० दिनेशचन्द अग्रवाल का विस्तृत लेख उस कलाकार के जीवन व काम पर भरपूर प्रकाश डालता है। अच्छा होता यदि सोभासिंह की कृतियों का भी उपयोग इसी अंक में किया जाता। हिमाचल में उन्होंने अपने जीवन का अमूल्य समय गुज़ारा है और पहाड़ों से प्रेरित व प्रभावित भी रहे। विपाशा में यह लेख सार्थक है।

योगराज (कांगड़ा)

पंडित संतराम वत्स्य ने बच्चों के लिए बहुत लिखा है और धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों को लेकर भी वे लिखते रहे। उनके निधन से सचमुच 'हमने एक स्वस्थ बुजुर्ग खो दिया है।' संपादकीय में स्वस्थ बुजुर्ग इस हिसाब से ही लिखा गया लगता है कि इतनी उम्र होते हुए भी वे पूरी तरह स्वस्थ थे और अचानक चल बसे। उनके साथ सत्संग में आनन्द आता था। विपाशा में 'नटराज' पर उनका लेख भी दिया गया है और संस्मरण भी, बहुत अच्छा लगा। उनके साहित्य की पूरी जानकारी भी लोगों तक पहुंचनी चाहिए।

धर्मपाल (कुल्लू)

अंक बीस में विषुव के त्यौहार पर डॉ॰ विद्याचन्द ठाकुर का लेख पढ़कर बहुत ज्ञान हुआ। हमें मालूम ही नहीं था कि इस त्यौहार का इतना महत्व है और यह देश के कई त्यौहारों और अनुष्ठानों से जुड़ता है। सही मायनों में खोज का यही लाभ होता है। लेखक को बधाई। 'आयोजन' के अन्तर्गत प्रदेश की कई गतिविधियों के बारे मालूम हुआ। साहित्यकारों को सम्मान देना अच्छी बात है लेकिन सच्चे लोगों को ही सम्मान मिलना चाहिए नहीं तो सही लेखक-कलाकारों को दु:ख ही होता है।

सुधीर शर्मा (नाहन)

मैं कहानियों का ही पाठक हूं। कविताएं तो समझ में नहीं आतीं। इस अंक में दोनों कहानियां सामान्य हैं। राजकुमार राकेश की एक कहानी विपाशा में पहले पढ़ी थी जो बहुत अच्छी थी। 'पहरा' उतनी अच्छी नहीं है। पंडित संतराम वत्स्य का संस्मरण भी कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ता। डॉ॰ रामदरश मिश्र की उत्तरी कोरिया यात्रा अच्छी रही।

तारा नेगी (दिल्ली)

विपाशा के अंक बीस का आवरण बहुत आकर्षक है। यह कलात्मक दृष्टि से भी अपने बहु-आयामी अर्थों में सार्थक प्रतीत होता है। एक मंदिर में रखे गए एक प्राचीन पात्र के छायाचित्र का उपयोग करके यह आवरण एक कलाकृति को दर्शाता है। शेष सामग्री भी हमेशा की तरह उपयोगी है।

सोहनलाल (सोलन)

डॉ॰.देवराज का 'साहित्य और प्रगतिवाद' शीर्षक लेख एकतरफा है। भले ही इसमें कुछ महत्वपूर्ण बातें भी हुई हैं। साहित्य में किसी भी वाद की प्रतिष्ठा के लिए उस वाद विशेष के समर्थक रचनाकारों को साथ लेकर चलना ही होता है वर्ना महज विचार तो मात्र राजनीति की शक्ल ले लेते हैं। इसलिए प्रगतिवाद को आगे बढ़ाने के लिए यदि हिन्दी के प्रमुख रचनाकारों को आगे किया गया तो यह कोई बुरी बात नहीं है। डॉ॰ देवराज को यह सब विस्तार से स्पष्ट करना चाहिए था।

बालकृष्ण (ऊना)

पं॰ सन्त राम वत्स्य का लेख तथा उनके बारे में संस्मरण विपाशा में पढ़ने को मिला। उनके निधन से हमने एक विद्वान खो दिया है। भारतीयता के प्रति उनका बहुत गहरा प्रेम था और इसी तरह शुद्ध हिन्दी के प्रति भी उनका आग्रह बराबर रहा। उन्होंने सृजनात्मक लेखन तो नहीं किया लेकिन बच्चों के लिए सैंकड़ों उपयोगी पुस्तकें उनकी देन है।

संपादकीय

प्रोत्साहन के फलस्वरूप

हिमाचल प्रदेश में सृजनात्मक साहित्य एवं कलाओं के समर्थन तथा प्रोत्साहन के लिए पिछले लगभग चार-पांच वर्षों से अधिक गंभीरता और सक्रियता के साथ कार्य होने लगा है। इस बात का प्रमाण इन उद्देश्यों को को लेकर चलाई गई अनेक योजनाएं प्रस्तुत करती हैं। भाषा एवं संस्कृति विभाग के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के साहित्य के लिए दस-दस हजार रुपये की राशि के पांच राज्यसम्मान रखे गए हैं तथा हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी द्वारा अनेक पुस्तक पुरस्कार दिये जाने लगे हैं। इसके अतिरिक्त अकादमी पुस्तकों के प्रकाशन हेतु अनुदान भी देती है और पुस्तकों की थोक खरीद भी करती है। इन सारी योजनाओं के चलने से कुछ अच्छे परिणाम भी सामने आए हैं। मसलन लेखकों को अपनी पुस्तकें प्रकाशित करवाने के लिए अब सरलता से प्रकाशक मिल जाते हैं और पत्रिकाओं में भी रचनाओं के प्रकाशन की भरपूर सुविधा उपलब्ध हैं।

प्रतिवर्ष लेखक सम्मानित और पुरस्कृत भी हो रहे हैं। कुछ ऐसे रचनाकार जो पिछले लगभग तीन-चार दशकों से लिखते रहे हैं और अब तक इनकी पुस्तकें नहीं छप सकीं थीं। उनकी रचनाएं भी इस दौरान पुस्तकाकार में पाठकों को उपलब्ध हो सकी हैं। यह पुस्तकों की थोक खरीद जैसी योजनाओं से ही संभव हुआ है। बहुत सारे नये लेखकों ने भी प्रोत्साहित होकर अपने लेखन कर्म को गति के साथ आगे बढ़ाया है। इस सब के बावजूद हम यह नहीं कह सकते कि सब कुछ अच्छा ही हो रहा है या बेहतर लेखन ही सामने आ रहा है। बल्कि प्रकाशन की सुविधाएं मिल जाने पर बहुत कुछ ऐसा भी छप रहा है जिसे हम शुरू के अभ्यास का साहित्य कह सकते हैं। एक समय होता था जब लेखक या कवि सालों पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहने और चर्चित होने के लम्बे संघर्ष के बाद कहीं अपनी पहली पुस्तक प्रकाशित करवा पाता था। पाठक उसकी रचना-क्षमता से पहले ही परिचित रहते थे इसलिए उसकी पुस्तक की उन्हें प्रतीक्षा रहती थी और खरीदकर पुस्तकें पढ़ी भी जाती थीं। आज ऐसे लोगों की सीधी पुस्तकें ही देखने को मिल रही हैं जिनका पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से क़हीं नाम तक

नहीं सुना होता। ज़ाहिर है यह सब अच्छा नहीं हो सकता। आए दिन कुछ ऐसे लोगों से मुलाकात होती है जिन्हें अपना कृतित्व परिचय देते हुए अच्छा समय लग जाता है क्योंकि दर्जन भर पुस्तकों के नाम और उनकी विधाओं को गिनाना होता है। इस दौर में लेखकों के 'बायो-डाटा' में अच्छा विस्तार हुआ है। लेकिन उम्मीद है कि हम ऐसी स्थिति तक भी पहुंच सकेंगे जहां अपने कृतित्व की पिटारी स्वयं खोलकर न रखनी पड़े।

हमारे कुछ ऐसे रचनाकार भी हैं जो एक अर्से से लिखते रहे हैं और इनकी रचनओं की पाठकों को प्रतीक्षा भी रहती है। लेकिन दुःख की बात यह है कि इनमें से बहुतो ने पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से कुछ नहीं लिखा और कुछ केवल कवि सम्मेलनों व गोष्ठियों आदि में शरीक होते हैं। इसके साथ ही कुछ युवा रचनाकार काफी उत्साह के साथ रचना कर्म में आ जुटे हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिमाचल एक अलग इकाई के रूप में अस्तित्व में आया। अन्य राज्यों की तरह यहां भी साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों का संचालन होने लगा। इस दौर में यहां के रचनाकारों ने इन चालीस वर्षों में जो कुछ लिखा उसका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का निश्चय किया गया। विभिन्न विधाओं में हुए लेखन का विवेचन करने के लिए अलग-अलग समीक्षकों से आग्रह किया गया और पुस्तक के रूप में इसे प्रकाशित करने की योजना है। लेकिन सारी सामग्री समय पर उपलब्ध न होने की वजह से अब तक उपलब्ध लेख 'विपाशा' में क्रमशः देने का निर्णय लिया गया। इसी के फलस्वरूप 'हिमाचल की हिन्दी कहानी' शीर्षक से श्री सुन्दर लोहिया का लेख इस अंक में जा रहा है।

श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल से एक महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार भी इस में सम्मिलित है। तीन हिन्दी कहानियों के साथ एक मराठी कहानी भी इसमें दी गई है और चार हिन्दी कवियों की कविताओं के अतिरिक्त कीनिया की कविता के छः प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं के अनुवाद भी परिचय के साथ प्रस्तुत हैं। नियमित सामग्री में पुस्तकों की समीक्षा तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की रिपोर्टस् दी गई हैं।

साक्षात्कार

साहित्यकार की स्वाधीन चेतना बिक चुकी है

☐ रामेश्वर शुक्ल अंचल से नवीन चतुर्वेदी की बातचीत

अंचल जी ने जिन दिनों लिखना प्रारम्भ किया तब वे इन्टर द्वितीय वर्ष के छात्र थे। 1931 में इनकी पहली कहानी 'मेरा मुंह' माधुरी में प्रकाशित हुई। पहली रचना होकर भी वह कुछ ऐसी बन पड़ी थी कि निरालाजी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पं० रूप नारायण पाण्डे और शिवपूजन सहाय जैसे उस युग के शीर्षस्थ साहित्यकारों ने उसकी प्रशंसा की। इसी से उत्साह बढ़ा। इसके बाद 'सुहाग का सिन्दूर' 'जागरण' आदि कहानियां लिखीं। जब 1932 में माधुरी में कहानी 'कर्तव्यहीन' छपी तो विदेशी शासकों को उसमें राजद्रोह दिखाई दिया। अनेक कारणों से उन्हें तो विश्वविद्यालय से निकाला जाना संभव न हुआ लेकिन माधुरी के तत्कालीन सम्पादक की सेवाएं समाप्त कर दी गईं। वे दिन उग्र आन्दोलन और अंग्रेज शासकों द्वारा उसके निरंकुश दमन के दिन थे।

रामेश्वर जी खड़ी बोली और बृजभाषा की कविता के एक अनुरक्त और अर्पित पाठक तो विद्यार्थी जीवन से थे ही, फलस्वरूप कविताएं लिखना शुरू किया और केवल पांच वर्ष के भीतर ही हिन्दी के नए नक्षत्रों में गिने जाने लगे। साहित्यकार, पत्रकार और कवि पिता से मिली प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर तथा साहित्यिक परिवेश में यौवनारम्भ कर रामेश्वर शुक्ल कविता और कहानी लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। उन दिनों नवोदितों को वास्तव में प्रोत्साहित किया जाता था। 'माधुरी' और 'सुधा' प्रतिद्वन्द्वी पत्रिकाएं चाहे रही हों, किन्तु 'माधुरी' के सम्पादक का पुत्र होने पर भी 'सुधा' के संचालक-सम्पादक दुलारेलाल भार्गव इनकी कविताएं छापते थे। उन दिनों साहित्य में अपना स्थान बनाने के लिए किसी प्रकार की दलगत निष्ठा जरूरी न थी; भले पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे अपने और दल के प्रचार में विश्वास रखने वाले सम्पादक विशाल भारत में दलबन्दी की शुरूआत कर चुके थे।

आज वयोवृद्ध साहित्यकार रामेश्वर शुक्ल अंचल जी से बातचीत करते हुए उस समय के साहित्यिक सरोकारों और आज के लेखन को लेकर उनके विचारों से एक साथ गुजरा जा सकता है। इस साक्षात्कार में कुछ प्रश्नों के माध्यम से अंचल जी के विचार पाठकों तक पहुंचाने का प्रयास किया गया है।

नवीन चतुर्वेदी : आपकी पहली प्रकाशित पुस्तकीत कृति कौन-सी थी?

अंचलजी : मेरी पहली प्रकाशित कविता पुस्तक 'मधुलिका' थी, जो 1938 में मैंने स्वयं प्रकाशित की थी। उस पुस्तक पर मुझे उन दिनों में मध्य प्रदेश का सबसे बड़ा कहा जाने वाला रु० 500 का 'चक्रधर पुरस्कार' भी मिला था। उसके प्रकाशन के साथ ही मैं विशेष रूप से चर्चित हो उठा। यहां तक कि पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी 'कविता कौमुदी' के खड़ी बोली से सम्बन्धित दूसरे भाग में मेरी दो कविताएं प्रकाशित कर मुझे प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार के दूसरे काव्य संकलनों में भी मेरी कविताएं नवोदितों के बीच में स्थान पाने लगीं।

नवीन चतुर्वेदी : कौन से साहित्यकार आपकी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं?

अंचलजी : हिन्दी में निराला, प्रेमचन्द, सुदर्शन, जयशंकर प्रसाद, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' से मुझे प्रेरणा मिली; तो हिन्दी में उपलब्ध रवीन्द्र, शरद, खाण्डेकर, कन्हैयालाल मुंशी आदि की रचनाएं भी प्रेरणादायक बनीं। अंग्रेज़ी के और अंग्रेजी में अनूदित इतर यूरोपीय देशों के महान लेखकों की रचनाएं भी हिन्दी में अधिकाधिक सुलभ होती गईं और उन सब ने मूल या अनुवाद के रूप में मुझे अनेक प्रकार की प्रेरणाएं दीं। परन्तु लेखक की आन्तरिक दंशना और उत्पीड़क अन्तर्द्वन्द्व ही उसे लेखन का उत्स प्रदान करते हैं।

नवीन चतुर्वेदी : स्वातंत्र्योत्तर तथा स्वतंत्रता पूर्व की साहित्यिक रचनाओं के मूल स्वरों में आप क्या अन्तर अनुभव करते हैं?

अंचल जी : स्वाधीनता पूर्व की रचनाओं में स्वाधीनता प्राप्ति की चेतना और निष्ठा थी, साथ ही लेखन व्यवसाय कम लोकाकर्षण अधिक था। लेखन जीविकोपार्जन का साधन न रहा हो ऐसा न था। पर साहित्यिक नौकरी करने वाले कवि, लेखक भी अपनी स्वतंत्र विचारधारा रखते थे। कवि, लेखक समाज में स्वाधीनता संग्राम सेनानी जैसा आदर पाता था। भले ही वह आन्दोलनों में खुलकर भाग न लेता रहा हो या जेल न गया हो।

स्वाधीनता के बाद जीवन-मूल्यों में अनपेक्षित परिवर्तन हुआ और सेवा की राजनीति या देशभक्ति सत्ता के संघर्ष में बदल गई। इसका एक कुरूप परिणाम यह हुआ कि साहित्य आत्मवादिता और आत्मज स्वार्थ की ओर अधिकाधिक मुड़ता गया। साहित्य में शिल्प और विषयवस्तु को लेकर नई विचारधाराओं के आगमन के फलस्वरूप रचनात्मक परिवर्तन अवश्य हुए। पर देश में व्याप्त भ्रष्टाचार ने राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में बाधा पहुंचाई। स्वाधीन भारत में साहित्य भी कैरियरिज्म, अवसरवाद, राजनीति में अनावश्यक प्रवेश का साधन हो गया। दूसरी ओर साहित्य पर राजनीति और राजसत्ता के अधिकाधिक हावी होते जाने के खतरे भी सामने आए। प्रतिस्पर्धाएं पहले भी थीं। बेकारी भी उस कालखंड को देखते हुए कम न थी, पर पूरा वातावरण इस प्रकार की जातीय और साम्प्रदायिक पक्षधरता का शिकार न हुआ था।

नवीन चतुर्वेदी : आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों की किन रचनाओं को आप विश्व साहित्य की अमूल्य धरोहर मानते हैं?

अंचल जी : यदि सच्चे अर्थों में देखा जाय तो निर्विवाद रूप से हिन्दी की कोई भी साहित्यिक कृति अभी विश्व-साहित्य में स्थाई स्थान नहीं बना सकी। प्रचारवाद और अन्तर्राष्ट्रीय ताल-मेलवाद के कारण हिन्दी के बहुत श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ रचनाकार अपनी रचनाओं को संसार की विविध भाषाओं में अनूदित कराने में सफल हो गए, लेकिन यह अल्पजीवी प्रसिद्धि होती है और रचनाकार के साथ ही दमतोड़ देती है। मेरी समझ में राम चन्द्र शुक्ल का निबन्ध संग्रह

'चिन्तामणि', प्रसाद की कामायनी, प्रेमचन्द का गोदान और कुछ कहानियां, 'उग्र' की कुछ कहानियां, विश्व साहित्य में स्थान पा सकेंगी। इसी प्रकार निराला और महादेवी की कुछ स्फुट रचनाएं, शरद जोशी और रवीन्द्र त्यागी के कुछ व्यंग्य भी समर्थ हाथों द्वारा अनूदित होकर हिन्दी का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। मुश्किल यह है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के सूत्र आज इतने सुगम हैं कि घटिया से घटिया कवि, लेखक भी रूस, अमेरिका, इंग्लैंड या इतर देशों में प्रकाशित होने वाली अपनी हिन्दी रचनाओं के अनुवादों के कारण 'विश्व साहित्यकार' होने का भ्रम पालने लगता है, परन्तु सत्य यह है कि शरतचन्द्र जैसा मानव संवेदना से परिपूर्ण कथा-शिल्पी और अमर चरित्रों का सर्जक भी विश्व साहित्य में स्थान नहीं बना पाया। भले ही उनकी रचनाएं अग्रेज़ी में अनूदित हो गई हों।

नवीन चतुर्वेदी : आपने काव्य एवं कथा साहित्य दोनों माध्यमों से हिन्दी की श्रीवृद्धि की है। दोनों विधाओं की रचना-प्रक्रिया में आप क्या अन्तर पाते हैं?

अंचल जी : जहां तक फुटकर कविता का सम्बन्ध है, वहां तक तो आसानी जाती है और कविता लिखना अपेक्षाकृत सुगम लगता है। प्रबन्ध काव्य, खंडकाव्य रचना में चरित्र-सृष्टि और घटना नियोजन या कथा संगुम्फन के साथ-साथ चरित्रों की जीवंतता भी बनाए रखनी होती है। यह कार्य गद्य लेखन के विशेषकर लघु या दीर्घ उपन्यास लेखन के अधिक निकट होता है। गद्य लेखन कुछ अधिक तटस्थता और वस्तुनिष्ठता की मांग करता है क्योंकि उसमें लेखक को जाग्रत विश्व-बोध का भी साथ देना पड़ता है। गद्य और पद्य दोनों में एक न्यूनतम स्तरीयता या रचना-शिल्प की आवश्यकता तो पड़ती ही है—भले यह युग कविता से अकविता, रचना से अरचना और शिल्प से अशिल्प की ओर जाने का माना जाता हो। जीवन में जिन नाना प्रकार के चरित्रों के साथ जीना और सुख-दुख सहना नसीब हुआ है उनका रूपांकन या अन्तरात्मा का चित्रण तो गद्य में ही संभव है। कविता मूल रूप से भावना की वस्तु है—भले उसमें विचारणा, दृष्टिकोण, दार्शनिक मान्यता और जीवन-दर्शन पूरा स्थान पाता हो। गद्य मूल रूप से विचारोत्तेजक प्रक्रिया है जो दुनिया को समझने और समझाने में भले भावना का पूरा सहारा लेती हो, पर केवल रसावेग के सहारे ही वह पूर्ण शक्तिशाली नहीं होता। उसे चिन्तन की छाप भी छोड़नी पड़ती है।

नवीन चतुर्वेदी : क्या साहित्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है या परिवर्तन को एक निश्चित दिशा दी जा सकती है?

अंचल जी : साहित्य के द्वारा सम्भव तो यह सब है पर यदि साहित्य की क्रान्तिमुखी मर्यादा अपनी पूरी शक्ति के साथ बनी रहे। साहित्यकार की स्वाधीन चेतना आज लगभग बिक चुकी है। उसके सामने प्रलोभनों, सुविधाभोग और धनोपार्जन के विभिन्न तौर-तरीकों के अम्बार लगे हैं। साहित्यकार का निस्पृह और त्यागी चरित्र पिछले तीस वर्षों में निरंतर क्षीण होता गया। साहित्य की दुनिया मुखोटों की दुनिया बन गई। परिणाम स्वरूप अपने विश्वासों और साहित्यिक आस्था के बल पर जीने वालों की पीढ़ी समाप्ति की ओर जा रही है। नई पीढ़ी में ऐसे लोग बिल्कुल न हों ऐसी बात नहीं है पर मैं तो उस पूरे दुर्गुणात्मक परिवर्तन की बात कर रहा हूं जो रचना क्षेत्र में व्याप्त है। जब लेखक का अपने ही चरित्र एवं आचरण पर अधिकार नहीं रह गया। दूषित अर्थव्यवस्था और पूंजीवाद प्रभूत महंगाई ने उसे जनसाधारण जैसा घायल कर दिया, तब वह समाज को दिशा देने वाली शक्ति कहां से लाएगा। युग-परिवर्तन और

समाज-परिवर्तन की शक्ति तो लेखक के अन्तःकरण की ईमानदारी से ही आती है। मैं नहीं समझता कि आज के साहित्य से ऐसी कोई आशा बांधी जा सकती है। वह तो प्रमुख रूप से यौनआस्वादन, राजधानियों की तृष्णा भरी—सुख को तलाशती प्रेरणाओं में जी रहा है।

नवीन चतुर्वेदी : निश्चय ही स्वातंत्र्यपूर्व गांधी की आंधी से आप भी अप्रभावित नहीं रहे ? आप पर गान्धी जी के विचारों का कैसा प्रभाव पड़ा ?

अंचल जी : गांधी जी को एक अवतारी महापुरुष जैसा बनते जाते मैंने देखा उनकी राजनैतिक कुशाग्रता के साथ-साथ जीवन के नैतिक मूल्यों के प्रति उनके आग्रह का भी मैं प्रशंसक रहा। प्रत्येक देशवासी की तरह मैंने उनके प्रति श्रद्धा भाव रखा। पर उनकी आर्थिक विचारणा और समाज में धनी और निर्धन के प्रति ट्रस्टीशिप के विचारों को मैं कभी समझ नहीं पाया। इस दृष्टि से मैं समाजवाद को अधिक व्यवहारिक, कल्याणकारी और श्रेणीविषमता को हटाने में समर्थ मानता हूं। गांधीवाद ने पग-पग पर जनता का शोषण करने वाले स्वदेशी पूंजीवाद को जो संरक्षण प्रदान किया मैं उससे सहमत नहीं था। भले ही मानवीय दृष्टि से उनकी विचारधारा कितनी ही औदात्य क्यों न हो। मैं राष्ट्रीय पूंजीवाद को भी अंग्रेजों के औपनिवेशिक पूंजीवाद से कम श्रमशोषक और जनभक्षी नहीं मानता। जिस प्रजातंत्र पर गांधी जी की पूरी आस्था थी, मैं उसका हिमायती जरूर हूं पर यह प्रजातंत्र पूंजीवाद की सहायता से लड़े गए और जीते गए चुनावों द्वारा नहीं रचा जा सकता। गांधीवाद का अर्थशास्त्र आज की विकासशील तकनीकी की प्रगति से भी मेल नहीं खाता। इस दृष्टि से मैं अपने आपको नेहरूवाद से लगभग जुड़ा हुआ पाता हूं। जिस समाजवादी व्यवस्था के बिना इस देश में स्थाई शान्ति नहीं आ सकती वह नवनिर्माण की ऊर्जा का मुखापेक्षी है।

नवीन चतुर्वेदी : गांधी जी के विचारों की आज कैसी और कितनी प्रासंगिकता है ?

अंचल जी : जहां तक उनके विचारों की प्रासंगिकता का प्रश्न है। चरित्र निर्माण के करीब-करीब सारे गुण उनके जीवंत दर्शन में हैं। क्षमा, दया, अस्तेय, अपीर ग्रह, अनासक्ति, जनकल्याण या मानवता को शान्ति का संदेश उन्हें बुद्ध और ईसा के साथ बिठा देता है। इन महापुरुषों के जीवन में इतनी जटिलता न थी। क्योंकि उस समय न औद्योगिक प्रगति हुई थी न विश्वव्यापी परिवर्तन, अतः गांधीजी का काम अपेक्षाकृत अधिक कठिन था। गांधी जी के अहिंसा, नीतिदर्शन या संघर्ष के तरीके ने इस महान देश को पराधीनता से मुक्ति दिलाई तथा अन्य देशों के लिए भी स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी चरित्रबल प्रदान करने वाली नीतिमत्ता और देशभक्ति, विश्वशान्ति और विश्वकल्याण की भावना तो सदा प्रासंगिक रहेगी।

नवीन चतुर्वेदी : अपने जीवन की कोई ऐसी घटना बताइए जिसने आपके कवि हृदय को गहराई तक छुआ हो ?

अंचल जी : इस प्रकार की अनेक घटनाओं को मैंने अपनी संस्मरण कथाओं में लिखा है। एक घटना को चुनना बड़ा कठिन होगा। मैंने कैमरे की-सी आंख पाई है। जो कुछ भी घटित होता है मन के नगेटिव पर स्थाई हो जाता है। एक घटना बताता हूं जो प्रेम की पूर्णता की परिचायक है। हमारे ही गांव की एक विधवा जब एक दूसरी जात के युवक के प्रेमबन्धन में सम्पूर्ण समर्पण के साथ बंध गई तो आज से 50-55 वर्ष पहले ग्रामीण समाज में तहलका मचना स्वाभाविक था। उस सम्पन्न युवाप्रेमी की धाक कुछ ऐसी थी कि हमारा समाज उबल

कर रह जाता था, पर कोई सामने न आता था। एकाएक उस युवक की अकाल मृत्यु हो गई। गांव के लोग जब उसके घर पहुंचे तो उसकी ब्याहता पत्नी सम्पत्ति और जेवरों के लिए मृत पति के भाईयों से लड़, झगड़ रही थी, दूसरी ओर रखैल कही जाने वाली उस उत्सर्गमयी ने प्रेम के विकल वियोग की कातरता न सह पाकर फांसी लगाकर आत्महत्या कर ली थी। उसके मृत मुख पर कुछ ऐसी पवित्र आभा थी मानों मरकर भी वह एक निष्ठ, सच्ची मानवी होने का प्रमाण दे रही थी। तब उस कम आयु में ही शरदचन्द के बिना पढ़े और समुझे भी मैंने अनुभव किया था कि उदात्त नारीत्व और अर्पण की भव्यता विवाहित पत्नीत्व से बड़ी होती है।

नवीन चतुर्वेदी : आपके निर्देशन में कई शोध कार्य हुए हैं? आपकी, रचनाओं पर भी शोध कार्य हो रहे हैं। आपकी दृष्टि से हिन्दी शोध की दिशा और दशा क्या है और इसमें क्या परिवर्तन अपेक्षित है?

अंचल जी : हिन्दो शोध की दिशा तो देश की राजनीति की तरह ही दिशाहीन और दुर्दशाग्रस्त है। इतना सस्तापन और विषयों का सपाटपन आ गया है कि देखकर हैरत होती है। प्रत्येक शोध निर्देशक पी० एच० डी० बनाने का लक्ष्य लेकर चलता है। शोध के स्तर में प्रायः अध्ययन और निर्देशन के अधकचरेपन की झलक पग-पग पर मिलती है। हमारी मुश्किल यह है कि हमें अनेक कारणों से जिनमें एक हमारे मन की दुर्बलता भी है, इन सब शोधार्थियों को डिग्री देनी पड़ती है क्योंकि उनके साथ जीविका का प्रश्न जुड़ा है। इस सम्बन्ध में मेरा कुछ अधिक कहना मेरे ही वर्ग के लोगों को अरुचिकर लगेगा अतः इस बात को यहीं खत्म कीजिए। इतना ज़रूर कहना चाहूंगा कि विषयों के चयन और निर्देशन की प्रक्रिया में कहीं अधिक साहित्यिक जागरूकता, विषय प्रतिपादन की समग्रता और वस्तुगत एकनिष्ठता लाने की आवश्यकता है।

नवीन चतुर्वेदी : पहले की अपेक्षा अब आप कवि सम्मेलनों के स्तर में क्या अन्तर अनुभव करते हैं?

अंचल जी : कवि सम्मेलनों का स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। सस्ता मनोरंजन, फूहड़ व्यंग्य-विनोद, अश्लील लतीफेबाजी आज संचालन का प्रमुख अंग बन गई है, कविता का मंचीय स्तर तो गिरा ही है। श्रोताओं की रुचि में भी ह्रास हुआ है। वाणी की जो गम्भीरता और साहित्य की जो स्तरीयता होनी चाहिए वो नहीं है। जो कवि सम्मेलन पहले सच्चे सांस्कृतिक मनोरंजन हुआ करते थे, अब अखाड़ेबाजी और अशालीन नोंक-झोंक के मंच बन गए हैं। जो कविता साहित्यिक दृष्टि से मौलिक न होकर भी शालीनता और जीवन के संपोषक तत्त्वों से भरी रहती थी, वह अब राजनीति के सस्ते नारों और नेताओं के भ्रष्टाचार के नाम पर गाली-गलौच की मंच-भूमि बन गई है।

नवीन चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य में विभिन्न वादों का उदय, और खेमेबन्दी के मूल कारण आपकी दृष्टि में क्या हैं?

अंचल जी : जहां तक साहित्य में आने वाले विविध वादों का प्रश्न है। उनका तो वैचारिक और सैद्धान्तिक आधार हुआ करता है। वे साहित्य के इतिहास की प्रवहमान रचना प्रक्रिया से जन्म लेते हैं और साहित्य में नए-नए भावान्दोलनों का सूत्रपात करते हैं। समान विचारधारा, भावधारा या काव्य विधा के कवि, लेखक एक सूत्र में बंधे यह भी समझ में आता है। स्वाभाविक है कि समान विचारधारा के साहित्यकार अधिक घनिष्ठ और निकट होते हैं।

पर जिस प्रकार की शिविरबद्धता, अशालीन खेमेबन्दी आज साहित्य में चल पड़ी है यह रचनात्मक दृष्टि से अवांच्छनीय है। रचनाकारों का इस प्रकार का व्यूहीकरण, विषयवस्तु और शिल्प के एक ही पैटर्न पर लिखे-लिखाए जाने का आग्रह और अपने देश की मिट्टी से कटकर आयातित विचारों का आधिपत्य साहित्य को एकांगिता ही प्रदान करेगा। देखना केवल यह चाहिए कि विचारधारा या रचनाविधा गलत व्यवस्था का साथ तो नहीं दे रही तथा अन्याय, शोषण, सामाजिक विषमता, अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष की भावना जनमानस में भर रही है या नहीं।

नवीन चतुर्वेदी : किसी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय समीक्षक की दृष्टि मूलतः किन बिन्दुओं पर होनी चाहिए ?

अंचल जी : किसी भी कृति की समीक्षा, उस विचारधारा के मूलभूत निकष पर की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में तुलसीदास का कथन—"अमिय सराहिए अमरता, गरल सराहिए नीच" निर्देशक सिद्धान्त हो सकता है। उदाहरण के लिए रीतिकाल की आलोचना करते समय हमें भक्तिकाल के मापदंड को भूल जाना चाहिए और देखना चाहिए कि उस काल की जो मूल सृजन प्रेरणा रही है, उसका पालन और सम्यक् आकलन कितनी सफलता से इस कृति में हुआ है। आलोचना की कोई भी प्रणाली सर्वव्यापी और सर्वतोमुखी होने का दावा नहीं कर सकती। सामाजिकता के यथार्थ चित्रण के नाम पर मानव पर मानव हृदय और स्वभाव के भाव सौंदर्य को व्यक्त करने वाली रचनाओं को नकारा नहीं जा सकता। वीर काव्य की आलोचना की कसौटी, प्रेमकाव्य की आलोचना की कसौटी से भिन्न होगी ही। पर हिन्दी में आज मतवादी आलोचना का कुछ ऐसा बोलबाला है कि अपने दृष्टिकोण से इतर साहित्य को समुचित मान्यता नहीं मिल पाती है।

नवीन चतुर्वेदी : क्या हिन्दी साहित्य अपनी भावनात्मक एवं वैचारिक परम्परा से दूर हटता जा रहा है ?

अंचल जी : जहां तक साहित्य की जनोन्मुखी प्रवृत्तियों की प्रमुखता का प्रश्न है वहां साहित्य को समाज का प्रतिनिधि आज भी कहा जा सकता है। पर भारतीय विचारधारा और चिन्तन में आस्था, आलोक और अभय की जो संचेतना प्रत्येक युग को उद्भासित करती रही, यहां तक कि रीतिकाल में विलासवाद में भी अपनी लौ जलाए रही, वह अब क्षीण हो गई है। साहित्य में आज उसके स्थान पर अनास्था, संशय और विचार की प्रबलता है। एक प्रकार का भावानात्मक कुंठावाद छाया है जो उसे नैराश्य और विफलता के तिमिरजाल से निकलने में बाधक हो रहा है। फलस्वरूप साहित्य की राष्ट्रीय ऊर्जा की परम्परा में आत्मगौरवबोध के स्थान पर विकृत यौन भावाधिक्य और जीवन-मूल्यों के विघटन की कुत्सा अधिक देखने को मिलती है, आशा और विश्वास का अदम्य प्रकाश कम। इसे आप परम्परा से हटना भी मान सकते हैं और आधुनिकता का अतिरेक भी। शुद्ध भावनाजीविता ने लम्बे समय तक बीसवीं सदी के हिन्दी साहित्य को मोहाच्छन्न रखा। अब एक ऐसे बुद्धिवाद का युग आया है कि भावना को दुर्बलता का पर्याय मानता है और बुद्धि को ही सारे समाधानों का साधन। दोनों प्रकार के अतिवाद हमारी परम्परा में स्थान नहीं पाते। हमारी परम्परा तो जीवन के लिए ज्ञान, कर्म, भाव, विवेक के रासायनिक समन्वय को अनिवार्य मानती रही है।

हिमाचल की हिन्दी कहानी

□ सुन्दर लोहिया

हिमाचल प्रदेश में कहानी लिखने की कोई बहुत लम्बी परम्परा नहीं है। जो लोग चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और यशपाल की कहानियों से हिमाचल की हिन्दी कहानी का आरम्भ मानते हैं, उनसे मेरा नम्र अनुरोध है कि ये दोनों महान लेखक हिमाचल प्रदेश से जुड़े हुए इसलिए माने जा रहे हैं कि इनके पूर्वज यहां के मूल निवासी थे। वैसे दोनों का जन्म, उनकी शिक्षा-दीक्षा और रचनाक्षेत्र, कर्मक्षेत्र भी हिमाचल से बाहर ही रहा है। उन्होंने हिमाचल के जन-जीवन पर जो कहानियां लिखीं भी हैं, उनकी संख्या बहुत कम है। फिर भी उन्हें हिमाचली कहानीकार मानकर हम केवल अपने आपको ही गौरवान्वित कर सकते हैं। लेकिन हिन्दी के समर्थ कहानीकारों में कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिनका जन्म हिमाचल प्रदेश में हुआ है—या उन इलाकों में जो आज हिमाचल प्रदेश में शामिल किये जा चुके हैं, जैसे निर्मल वर्मा और राम कुमार। इसी तरह मोहन राकेश भी एक चर्चित कथाकार हैं जिन्होंने हिमाचल प्रदेश में नौकरी की है और यहां के लोक जीवन पर प्रामाणिक रचनाएं भी लिखीं हैं। इन्हें हम अपनी परम्परा में शामिल क्यों नहीं करते ?

बहरहाल, इस बहस से यह निबन्ध शुरू करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि हिमाचली लेखक और उसकी पहचान के बारे में हमारी मान्यताएं अभी काफी धुंधली और अस्पष्ट हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मैं उन कथाकारों को शामिल कर रहा हूं, जिन्हें यहां हिमाचली माना जाता है, चाहे वह हिमाचल में पैदा हुआ हो, चाहे हिमाचल में नौकरी कर रहा हो और चाहे हिमाचल प्रदेश से बाहर जीविकोपार्जन कर रहा हो।

हिमाचल प्रदेश में लिखी जाने वाली हिन्दी कहानी और हिमाचली हिन्दी कहानी की अपनी अलग-अलग पहचान है। पहली कहानियां वे हैं जो हिमाचल प्रदेश में रहते हुए लिखी जा रही हैं और दूसरी तरह की कहानियां वे हैं जो हिमाचल प्रदेश में जन्मे कथाकार इसकी भौगोलिक सीमाओं से बाहर रहते हुए लिख रहे हैं। इन दोनों तरह की कहानियों को इस निबन्ध में शामिल किया गया है।

हिमाचल की हिन्दी कहानी की इस विकास-यात्रा को डा० सुशील कुमार फुल्ल ने अपनी पुस्तक 'हिमाचल का हिन्दी साहित्य का इतिहास' में काल क्रम की दृष्टि से चार चरणों में विभाजित किया है;

(i) गुलरी काल—सन् 1911 से सन् 1938 तक
(ii) यशपाल काल—सन् 1939 से 1958 तक

(iii) प्रयोगवादी काल—सन् 1959 से 1970 तक

(iv) पुनर्जागरण काल—सन् 1971 से 1980 तक

क्योंकि प्रस्तुत निबन्ध की सीमा-रेखा सन् 1948 से आरंभ होती है, अतः डा० 'फुल्ल' का यह काल-विभाजन इस दृष्टि से उपयोगी नहीं रह जाता। सन् 1949 में यशपाल का एक महत्त्वपूर्ण कथा संग्रह 'फुलो का कुर्त्ता' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इस कथा संग्रह के बाद उनकी मृत्युपर्यन्त अनेक चर्चित कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'धर्मयुद्ध' 'उत्तराधिकारी' 'उत्तमी की मां' 'खच्चर और आदमी' शिल्प और कथा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। लेकिन यशपाल इन रचनाओं के सृजनकाल में हिमाचल से बाहर लखनऊ में ही रहे हैं, फिर भी इन रचनाओं ने हिमाचल के कथाकारों को प्रभावित किया ही है; इसलिए नहीं कि वे हिमाचली कथाकार थे, बल्कि इसलिए कि वे हिन्दुस्तान के चोटी के कहानीकार थे और उनका अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। हिमाचल के कथाकारों में यशपाल से प्रभावित पीढ़ी में हिमेश और सुन्दर लोहिया को शामिल किया जा सकता है। लेकिन डा० फुल्ल ने जो काल-विभाजन और नामकरण प्रस्तुत किया है, उसे तर्क संगत नहीं माना जा सकता। विशेषतः 1959 के बाद जो नामकरण उन्होंने किया है, वह भ्रामक और तर्कहीन है।

सन् 1959 से 1970 तक के काल को हिमाचल की हिन्दी कहानी का प्रयोगवादी काल कहना तर्क संगत नहीं है। यह ठीक है कि इस काल के दौरान हिन्दी में प्रयोगवादी धारा का प्रचलन हो रहा था, लेकिन जहां तक हिमाचल की हिन्दी कहानी का सम्बन्ध है, उसमें ऐसे कोई लक्षण विद्यमान नहीं थे। इस कालखण्ड को हम हिमाचली हिन्दी कहानी का अंकुरण काल ही कह सकते हैं। हां केवल यशपाल की कहानियों को लेकर भी यदि नामकरण करना हो तो भी प्रयोगवादी काल एक भ्रामक नाम हो सकता है। क्योंकि प्रयोगवाद से जो अर्थ ध्वनित होता है या जिसे साहित्य के इतिहासकारों ने ग्रहण किया है, उसमें यशपाल की रचनाएं कहीं भी समाती नहीं हैं। इसी तरह 1971 से आगे के कालखण्ड को पुनर्जागरण-काल कहना भी अनुपयुक्त है। पुनर्जागरण या रेनेसां जैसी कोई बात इस काल में लिखी गई हिमाचली कहानियों में दिखाई नहीं देती। हां, इतना अवश्य है कि इस युग में हिमाचल की हिन्दी कहानी अपनी पहचान स्थापित करने में प्रयत्नशील दिखती है। अतः इस काल खण्ड को 'पल्लवनकाल' की संज्ञा दी जा सकती है। इस तरह हम सन् 1948 से 1970 तक अंकुरण-काल और 1971 के बाद पल्लवन काल के अंतर्गत हिमाचल की हिन्दी कहानी की विकास यात्रा को विभाजित कर रहे हैं।

सन् 1948 में जब हिमाचल प्रदेश अस्तित्व में आया तो साहित्य के नाम पर यहां कविताएं तो लिखीं जा रही थीं लेकिन कहानी विधा लगभग अज्ञात ही थी। खोजबीन के बाद जो सूचनाएं मुझे मिली हैं, उनके आधार पर यह पता चला है कि सन् 1958 तक हिमाचल में जो कहानीकार कहानियां लिख रहे थे, उनमें कृष्ण कुमार 'नूतन' और हरवंश सेठी के नाम लिये जा सकते हैं। ये दोनों कहानीकार छोटी-छोटी उपदेशात्मक या प्रेम प्रसंगों की किशोर कहानियां लिख रहे थे। इस दौरान देहरादून से हिमाचल की सेवा में आने वाले कैलाश भारद्वाज उल्लेखनीय कथाकार हैं। सन् 1953 में इनकी मौलिक कहानी 'धर्मयुग' में प्रकाशित हो चुकी है। सन् 1956 में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' द्वारा आयोजित कहानी प्रतियोगिता में इनकी कहानी 'आंधी' को अखिल भारतीय स्तर पर पुरस्कृत किया गया था। इसी समय

सुन्दर लोहिया ने भी कहानी लिखना शुरू किया था। एक कहानी 'अधूरी चिट्ठी 'हिमप्रस्थ' में और एक डायरी शैली में लिखी कहानी 'दरारें' जबलपुर से प्रकाशित 'वसुधा' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

अंकुरणकाल (1959-72) की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटनाओं में, 1955 में हिमाचल प्रदेश के लोक-सम्पर्क विभाग की ओर से 'हिमप्रस्थ' मासिक के प्रकाशन की शुरुआत के अतिरिक्त दो उल्लेखनीय कहानी संकलनों का प्रकाशन शामिल किया जा सकता है। 'हिमप्रस्थ' में हिमाचल प्रदेश की नवोदीयमान प्रतिभाओं को प्रकाशन के अवसर प्राप्त हुए। सन् 1959 में सत्येन्द्र शर्मा के सम्पादन में हिमाचली कहानीकारों का पहला संग्रह 'वर्फ़ के हीरे' शीर्षक से छपा। इस संग्रह में ग्यारह कहानीकारों की बाईस कहानियां प्रकाशित की गईं। ये कहानियां स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की या तो आदर्शवादी कहानियां हैं या प्रेम के चलताऊ ढंग को अभिव्यक्त करतीं हैं। आंचलिकता के नाम पर पहाड़ और सड़कों का वर्णन मात्र है, आंचलिकता की समझ कम। इस संग्रह में संकलित कथाकारों में से केवल दो नाम अगली विकास-यात्रा में शामिल हो सके—ये हैं हिमेश और खेमराज गुप्त।

सन् 1972 में किशोरीलाल वैद्य के सम्पादन में 'एक कथा परिवेश' शीर्षक से अठारह हिमाचली कथाकारों को शामिल किया गया। सन् 1959 से 1972 तक की कालावधि में हिमाचल की हिन्दी कहानी ने जो लम्बी छलांग लगाई, उसका अनुमान इस कथा संग्रह के अध्ययन से सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। हिमाचली परिवेश पर लिखी गई ये कहानियां इस प्रदेश के कहानीकारों की रचना-क्षमता और जीवन दृष्टि को प्रकट करती हैं। इस संग्रह की बहुत-सी कहानियां आज भी पाठकों की स्मृति में ज़िन्दा हैं—जैसे हिमेश की 'सिलसिले' लोहिया जी 'खून का रिश्ता' ज़िया सिद्दिकी की 'बोझ' खेमराज गुप्त की 'थुम्बू की राख' और विष्णु शर्मा की 'फूटी लालटेन'। इन तथा अन्य कहानीकारों ने अपने परिवेश के जनजीवन की जीवन्त झांकियां प्रस्तुत की हैं। जीवन-दृष्टि की विविधता के बावजूद एक परिवेश के जीवन की समग्रता इस का संकलन की विशेषता है।

इन दो संकलनों के अलावा इस काल में दो कहानीकारों के निजी संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। किशोरी लाल वैद्य का कहानी संग्रह 'सफेद प्रतिमा-काले साये' सन् 1963 में प्रकाशित हुआ और संतोष शैलजा का संग्रह 'जौहर के अक्षर' शीर्षक से सन् 1966 में प्रकाशित हुआ। वैद्य की कहानियां वैयक्तिक अनुभवों पर आधारित हैं। कथ्य में आदर्श और यथार्थ की द्वन्द्वात्मक स्थिति रचनाकार के उस पड़ाव का संकेत करती है जहां वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए कला के उपयुक्त उपकरण चुनने की तैयारी कर रहा था। शैलजा के लेखन में आदर्शवाद का अतिरेक रचनाओं को निष्प्राण और प्रभावहीन बना देता है। आदर्शवाद के प्रति प्रचण्ड मोह रचना को अतिरंजना का शिकार बनाकर अविश्वसनीय बना देता है। शैलजा अपनी कहानियों को यथार्थ के धरातल से उठाकर आदर्शवाद की अन्धी गलियों में छोड़ देती हैं।

अंकुरणकाल में जो कथाकार बिना किसी निजी कथासंग्रह के भी उल्लेखनीय हैं उनमें कैलाश भारद्वाज, सुंदर लोहिया, हिमेश, ज़िया सिद्दिकी के नाम गिनाये ज सकते हैं। कैलाश भारद्वाज ने एक सौ से भी अधिक कहानियां लिखी हैं और प्रतिष्ठित एवं लघुपत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी है। 'नवनीत' में प्रकाशित उनकी रचना 'दो मुद्राएं' कन्नड़ भाषा में अनूदित हो चुकी है। सुन्दर लोहिया ने ज्यादा नहीं लिखा है लेकिन सातवें दशक की हिन्दी कहानी के

संदर्भ में इनकी रचनाएं प्रतिष्ठित और लघुपत्रिकाओं में बराबर छपती रही हैं। 1960 के बाद इस कहानीकार का व्यापक तौर पर नोटिस लिया गया। तीन कहानियों 'उल्टे पंखों वाली ज़िन्दगी' पंजाबी में, 'साया' मराठी में और 'स्वयंहारा' का गुजराती में अनुवाद हो चुका है। आरंभिक रचनाओं में लोहिया आधुनिकतावाद से प्रभावित रहे। 'रोशनी का आरा' और 'स्वयंहारा' इस दौर की प्रमुख रचनाएं हैं। इसके बाद यह कहानीकार निरंतर सामाजिक सच्चाइयों से साक्षात्कार की कहानियां लिखता रहा है। 'हिमेश' भी ऐसा ही कथाकार है जो छिटपुट रूप में छपता रहा है। लेकिन हाल ही में हिमेश की कहानियों का संग्रह 'एक धौलाधार अन्दर भी' प्रकाशित हुआ है। जिसमें इनकी पहले की चुनी हुई कहानियों के साथ हाल के वर्षों में लिखी गई कुछ नई कहानियां भी शामिल हैं। अन्धविश्वासों और सामाजिक विसंगतियों से निरंतर जूझना इस कहानीकार की निजी पहचान है। ज़िन्दगी के हल्के-फुल्के अनुभवों को निहायत नाज़ुक अन्दाज़ में बयान करने की कला ज़िया सिद्दकी के पास है। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से अपनी कहानी का कथ्य चुनकर उसे कहानी का जामा पहनाने का कमाल ज़िया को हासिल है। यही कारण है कि ये कथाकार कहानी संग्रहों के अभाव में भी चर्चित रहे हैं।

पल्लवनकाल (1972 से आगे)

इस अवधि में हिमाचल के राजनीतिक मानचित्र में परिवर्तन आया तो उसके सांस्कृतिक परिवेश का भी विस्तार हुआ। सन् 1966 में पंजाब के पहाड़ी भाषी क्षेत्र हिमाचल में सम्मिलित हुए और 1971 में इसे पूर्ण राज्यत्व प्राप्त हुआ। इस वर्ष यहां कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी की स्थापना हुई। लेखकों को विधिवत पुरस्कृत करने की योजना बनी। सम्मेलनों और प्रकाशनों के लिए अनुदान दिये जाने लगे। परिणामस्वरूप हिमाचल प्रदेश में साहित्यिक गतिविधियां तीव्र हुई। पुस्तकों का प्रकाशन सुगम हो गया। इसीलिए हिमाचल की हिन्दी कहानी अपनी विविधता और विशिष्ठता के साथ पनपने लगी। कहानीकारों की पूरी नई पीढ़ी उभर कर सामने आई। इसी कालावधि में एक नये कहानी आंदोलन का प्रस्ताव भी आया।

यह कहानी आंदोलन डा० सुशीलकुमार फुल्ल ने प्रस्तावित किया। इसे उन्होंने 'सहज कहानी' का नाम दिया। कांगड़ा लोक-साहित्य परिषद् के सत्रह सदस्यों के कथा संग्रह की भूमिका में सहज कहानी के प्रस्तोता डा० फुल्ल ने घोषणा की—(सहज कहानी आंदोलन) समांतर कहानी की बढ़ती हुई जड़ता को चुनौती देने तथा भारतीय कहानी में सर्वप्रथम सहज कहानी को प्रतिपादित एवम् प्रचारित करने वाला है।' सहज कहानी को परिभाषित करने का उपक्रम डा० फुल्ल ने एक दूसरे कहानी संकलन 'पहचान' की भूमिका में किया। उन्होंने लिखा है, 'कहानी नाम बदलती रही है कभी नई कहानी कभी अकहानी, कभी समांतर कहानी तो कभी सचेतन कहानी आदि विशेषणों से इसे विभूषित किया जाता रहा है। ये सब नाम वस्तुतः एक चकाचौंध, एक नया आकर्षण उत्पन्न करने के लिए आलोचकों अथवा स्वयम् लेखकों द्वारा ही दिये जाते रहे हैं। इससे कहानी की लोकप्रियता एवम् क्षमता ही सिद्ध होती है।'

इस मानसिकता की पृष्ठभूमि में डा० फुल्ल लिखते हैं, 'सहज कहानी वह रचना है जो कथ्य एवम् शिल्प की दृष्टि से सहजता बनाए हुए आकर्षक हो। रचना प्रक्रिया की सहजता के अन्तर्गत स्थितियों, परिस्थितियों एवम् भावानुभूतियों की असहजता भी सहज रूप में समाविष्ट हो जाती है। अभिप्राय यह है कि कहानी में सुनियोजित एवम् सुविचारित सहजानुभूति का

चित्रांकन होगा लेकिन सायास कृत्रिम लेखन नही ।'

इतना ही नहीं सहज कहानी को और ज्यादा परिभाषित करने के लिए प्रस्तोता डा० फुल्ल को 'रचना' त्रैमासिकी के सहज कहानी विशेषांक-एक के सम्पादकीय में लिखना पड़ा, 'इसे जनवादी, प्रगतिशील लेबल की आवश्यकता नही यह मनुष्य के सुख-दुख, हास-परिहास एवम् परिवेश की कलात्मक परिणति है'''पर्वतीय नदी-नाले की भांति अपना मार्ग प्रशस्त करती हुई'''जनजीवन को उकेरती हुई'''सहज कहानी ही वह केन्द्र बिन्दु है जो आज की भटकती हुई कहानी को उसकी गरिमा प्रदान कर सकता है'''।'

उपरोक्त स्थापनाओं से यह सिद्ध होता है कि सहज कहानी जनवादी और प्रगतिशील मूल्यों को नारा और पोस्टरबाज़ी मानती है तथा अब तक के सभी कहानी आंदोलनों को पथ-भ्रष्ट कहकर अपना पथ प्रशस्त करने को, अपनी अलग पहचान बनाने को कहानीकार की जो सहज आकांक्षा होती है, वही सहज कहानी आंदोलन की पहचान है। असल में इस आंदोलन को ठीक तरह से प्रस्तुत नहीं किया गया, क्योंकि इसके पीछे कोई ठोस वैचारिक धरातल नहीं रहा।

फिर भी इस आंदोलन के तहत तीन कहानी संग्रह छापे गये—सहज कहानियां (1976) पगडंडियां (1978) पहचान (1979) ये सभी 'डा० फुल्ल' के सम्पादन में प्रकाशित हुए। इन कहानी संकलनों में कुछ उदीयमान कहानीकार प्रकाश में आये, उनमें गिरिधर योगेश्वर, सुदर्शन वसिष्ठ, धर्मपाल कपूर, प्रेम भारद्वाज उल्लेखनीय हैं। इन संकलनों पर डा० जगमोहन चोपड़ा की टिप्पणी सटीक है; 'सहज कहानियां संग्रह की सत्रह कहानियां, आदमी की तकलीफ की कहानियां हैं। अर्थव्यवस्था और पारस्परिक सम्बन्धों के तनाव को अभिव्यक्ति यहां भी अपने ढंग से दी गई है। फिर भी लगा कि कहानीकार इसमें आदर्शवाद, हृदय परिवर्तन और बीस सूत्रीय कार्यक्रम के यूटोपिया से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाये हैं। कुछ लेखकों ने तो कहा-नियों के बीच में आकर खुलेआम उपदेश देने में परहेज़ नहीं किया। कहानियों से इस प्रकार के बलात्कार कहानी में दरार पैदा कर, कहानी को अर्थहीन बना देते हैं। (सारिका 5-18 अगस्त, 1977)।

सहज कहानी आंदोलन से बाहर भी कुछ कहानी संकलन प्रकाशित हुए हैं, इनमें डा० प्रत्यूष गुलेरी द्वारा संपादित 'स्मृति' (1980) केशव द्वारा संपादित 'आहटें' (1981) तुलसी रमण द्वारा संपादित 'पहाड़ से समुद्र तक' (84) और 'बर्फ़ की कोख से' (1986) महत्त्व-पूर्ण हैं।

'स्मृति' में संकलित कथाकारों में अधिकांश ने व्यक्तिगत अनुभव को कहानी में ढालने की कलाहीन कोशिश की है। अनुभव को किस तरह चिन्तन की भट्ठी में पिघलाया जाता है किस तरह उसे कला के सांचों में ढाला जाता है, यह 'स्मृति' के बहुत से कथाकारों को अभी तक सीखना है। एक अद्भुत किस्म का विरोधाभास इन कहानियों में मिलता है। एक ओर भावुकतामय आदर्शवाद और दूसरी ओर यौन कुण्ठाओं से पैदा होने वाली विसंगतियां, इन कहानियों की आम कमज़ोरी है। जिन कहानीकारों ने जीवन को नज़दीक से देखकर उससे संघर्षपूर्ण परिस्थितियों को उठाने की कोशिश की है उनमें धर्मपाल का नाम लिया जा सकता है। इनकी कहानी 'वह रोयी' सामाजिक यथार्थ से शुरू होकर अन्त में एक फंतासी में बदल जाती है। फंतासी कहानी कला का एक मान्य रूप है परन्तु कहानीकार उसके अनुरूप शिल्प न

दे सका, जिसके परिणामस्वरूप एक अच्छी भली कहानी प्रभावहीन हो गई।

केशव द्वारा सम्पादित संग्रह 'आहटें' इस लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इसमें हिमाचल के अधिकांश वे लेखक शामिल हैं जो चर्चित रहे हैं। तुलसी रमण के संपादन में जो दो कथा संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनकी अपनी अलग-अलग भूमिका है। पहला संग्रह 'पहाड़ से समुद्र तक' में रमण ने हिन्दी कहानी की राष्ट्रीय धारा के साथ हिमाचल के हिन्दी कहानीकारों को जोड़ने की कोशिश की है। अपने सम्पादकीय में रमण ने दावा किया है कि 'लेखन के परिवेश अलग होने और परिस्थितियां भी एक जैसी न होने के बावजूद मूलभूत समस्याओं और दृष्टिकोणों में निकटता के साथ वेदनागत समानता पाई जाती है।' लेकिन यह दावा कहानियों के अध्ययन के आधार पर सही प्रतीत नहीं होता। क्योंकि खुद रमण की कहानी 'चील' की संवेदना और महाराज कृष्ण काव की कहानी 'नीलामी' की संवेदना एक जैसी नहीं है? रमण ने जहां हिमाचल के ग्रामीण परिवेश में प्रेम सरीखे मानवीय मूल्य को भी राजनीति के टुच्चे स्वार्थ का शिकार बनते दिखाया है, वहां महाराज कृष्ण काव एक गरीब कश्मीरी को उसकी निर्धनता का शिकार बनते हुए दिखाते हैं। धन के लोभ में अपनी पुत्रवधू को छोकरी की तरह पेश करना—पुरानी पड़ चुकी संवेदना है, यह संवेदना भी नहीं क्योंकि इसमें उस आदमी के प्रति सहानुभूति पैदा नहीं होती, उल्टे एक वितृष्णा सा भाव जाग्रत होता है जो इस पात्र को पाठकों की नज़र में गिरा देता है। जबकि 'चील' में राजनीतिक दुष्चक्र का शिकार मोहणा और राधो कहानी के पाठकों की संवेदना के तारों को झंकृत कर जाते हैं।

'बर्फ़ की कोख से' संग्रह में हिमाचल के दस कथाकारों की बीस रचनाएं शामिल हैं। इसमें अधिकतर वे ही नाम है जो विभिन्न संग्रहों में यानि 'आहटें' और 'पहाड़ से समुद्र तक' में शामिल किये जा चुके हैं। लेकिन इस संग्रह में दो नवोदीयमान कहानीकारों की विशिष्ट रचनाएं आई हैं। योगेश्वर शर्मा की 'नंगा आदमी' और अरुण भारती की कहानी 'शून्य से शून्य तक' इस संकलन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। अरुण भारती की कहानी 'शून्य से शून्य तक' उर्दू के मशहूर कथाकार सआदत हसन मण्टो की याद ताज़ा करवाने वाली कहानी है। एक तवायफ भी प्यार के काबिल हो सकती है, उसके प्यार में सब जगह दिखावा ही नहीं होता, कोई ऐसा भी आदमी होता है जिसे वह सचमुच प्यार करती है। ज्ञानी के प्रति मीरा का प्यार और मीरा के प्रति ज्ञानी के दिल में बसा हुआ रागात्मक सम्बन्ध प्यार की पवित्रता और उसकी त्रासदी को एक साथ अभिव्यक्ति देता है। योगेश्वर मूलतः व्यंग्यकार हैं। इनकी कहानी 'नंगा आदमी' आज की राजनीति में गरीब के शोषण की सशक्त अभिव्यक्ति है। योगेश्वर इस शोषण से मुक्ति का मार्ग भी सुझाता है लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में सीटू यह जानता हुआ कि इस व्यवस्था के विरुद्ध वह दूसरे मज़दूरों के साथ मिलकर ही लड़ सकता है, चुप रह जाता है। यह शायद उसकी भीतरी समझ है कि अभी इस तरह का मौका नहीं आया है।

इस दौरान कुछ लेखकों के निजी कथा संग्रह भी प्रकाशित हुए। 1966 में गंगाराम राजी का निजी संग्रह 'युगों पुराना संगीत' प्रकाशित हुआ। सन् 1977 में कथाकार दम्पत्ति संतोष शैलजा और शांताकुमार का 'पहाड़ बेगाने नहीं होंगे' संग्रह पालमपुर के प्रकाशक के यहां से छपा और यही संग्रह 'ज्योतिर्मयी' नाम से 1976 में दिल्ली के प्रकाशक राज्यपाल एण्ड संस के यहां से प्रकाशित हुआ। 1978 में ही केशव का पहला कहानी संग्रह 'फासला' प्रकाशित हुआ और सन् 1979 में सुदर्शन वसिष्ठ का पहला कहानी संग्रह 'अन्तरालों में घटता समय',

1980 में सुशील कुमार 'फुल्ल' का संग्रह 'खण्ड-खण्ड मानसिकता', सन् 1983 में केशव की दूसरा कहानी संग्रह 'अलाव' प्रकाशित हुआ। डा० सुशीलकुमार फुल्ल का दूसरा कहानी संग्रह 'मेमना' 1984 में प्रकाशित हुआ, इसी बीच डा० मस्तराम उर्मिल का कहानी संग्रह 'एक अदद औरत' और सुदर्शन वशिष्ठ का दूसरा संग्रह 'सेमल के फूल' (1985) में छपा। बद्री सिंह भाटिया का पहला कथा संग्रह' ठिठके हुए पल' (1986) और विजय सहगल का पहला कहानी संग्रह 'आधा सुख' भी 1985 में ही प्रकाशित हुआ है। संसारचन्द प्रभाकर का कहानी संग्रह 'मानव मन' और अरुण भारती का संग्रह 'भेड़िये' भी इसी बीच प्रकाशित हुए हैं।

संतोष शैलजा और शांताकुमार की कहानियों में भावुक आदर्शवाद के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण घटनाएं अस्वाभाविक और इसीलिए अविश्वसनीय लगते लगती हैं। अपने मन में सोची हुई बात को सही सिद्ध करने के लिए इन कहानियों में आकस्मिकता का सहारा लिया गया है। भावुकतापूर्ण आदर्शवाद का उदाहरण हमें इनकी कहानी 'पहाड़ बेगाने नहीं होंगे' के नायक भिक्खू के चरित्र में मिलता है, जहां वह अपनी पत्नी लक्ष्मी को जासूसी करने के लिए पुलीस को सौंप देता है। मैं इसे भावुकतापूर्ण आदर्शवाद इसलिए मानता हूं कि पुलिस के पास अपनी पत्नी को सौंपना एक बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम माना जा सकता है जो कोई क्रांतदर्शी व्यक्ति ही कर पायेगा—लेकिन भिक्खू तो एक साधारण-सा किसान है, उसे न क्रांति का पता है न किसी क्रांतिकारी विचारधारा का। फिर उसके चरित्र में ऐसा विकास अविश्वसनीय लगने लगता है।

डा० सुशील कुमार 'फुल्ल' हिमाचल प्रदेश के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं जो काफी समय से कहानियां लिख रहे हैं। 'हिमप्रस्थ' द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता (1978) में इनकी कहानी 'मेमना' को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ था। 'सारिका' में उनकी 'मीच्छव' कहानी भी प्रकाशित हुई है। ये दोनों कहानियां हिमाचल के लोकजीवन और लोक-संस्कृति को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती हैं। 'फुल्ल' एक विचार को लेकर रचना करते हैं। उस विचार के इर्द-गिर्द घटनाओं और पात्रों का सृजन करते हैं ताकि उनका विचार सिद्ध हो सके। इस प्रक्रिया में कुछ आवश्यक जानकारियां उनसे छूट जाती हैं या गडमड हो जाती हैं—जैसे 'मीच्छव' में उन्होंने लाहुल-स्थिति में बहु-पति प्रथा का प्रचलन बताया है जो ग़लत है। इस प्रकार की प्रथा किन्नौर में तो रही है—लेकिन लाहुल में नहीं। 'फुल्ल' की कहानी कला की सबसे बड़ी कमज़ोरी उनकी जल्दबाज़ी है। इसी कारण वे कहानी के लिए उपयुक्त डिटेल्स की अनदेखी कर जाते हैं जिससे उनका शिल्प भी अस्पष्ट-सा हो जाता है। पहाड़ी चरित्रों को उनकी पृष्ठभूमि में रखते हुए भी वे कहीं-कहीं उनकी मानसिकता को पहचानने में चूक जाते हैं। संवादों में ऐसी अभिव्यक्ति आ जाती है जो उनकी ज़िन्दगी से जुड़ी नहीं होती। जैसे 'मेमना' कहानी की नायिका के कई संवाद ऐसे हैं जो उस स्थिति की नायिका सोच नहीं सकती। कहानीकार ने अपने विचार जैसे उस पर लाद दिये हैं। भाषा भी लेखक की है, पात्र की नहीं।

सुदर्शन वसिष्ठ की आरंभिक कहानियों में लगभग ऐसी ही कमजोरियां दिखाई देती हैं। लेकिन इस कथाकार ने अपने आपको निरंतर संशोधित किया है। फलतः उसकी कहानियों से ये दोष कम होते गये हैं। आज सुदर्शन वसिष्ठ कथ्य और शिल्प के निर्वहन में किसी से उन्नीस नहीं पड़ते। 'औरंगजेब की जीत', 'सेमल के फूल' और 'धूप की कीमत' इनकी उल्लेखनीय

कथा रचनाएं हैं। 'औरंगजे़ब की जीत' इनकी आधुनिक राजनीति और उसमें पिसते हुए निर्धन वर्ग की असहायता को रेखांकित करती है। 'सेमल के फूल' ग्रामीण परिवेश में आने वाले बदलाव के बावजूद गरीब की इज्ज़त अभी भी असुरक्षित है—इस यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती है। 'धूप की कीमत' में निर्धन वर्ग का शहरी जीवन की सुख सुविधाओं में हिस्सेदारी का चित्रण है, जहां निम्नमध्यमवर्ग को उन सुविधाओं का वह हिस्सा मिलता है जैसे गली के मरियल कुत्ते को नल के नीचे जमा हुए पानी ही उपलब्ध हो पाता है। वशिष्ठ निरंतर सामाजिक सच्चाइयों से साक्षात्कार करते जा रहे हैं।

संसार चंद प्रभाकर का 'मानव मन' बारह कहानियों का संग्रह है। उन कहानियों में प्रभाकर ने ग्रामीण परिवेश का चित्रण किया है। कथा संयोजन में यह कहानीकार सक्षम है। पात्रों के मनोजगत् को भी खूब अच्छी तरह जानता है, लेकिन इस सबके बावजूद प्रभाकर अपनी रचनाओं को आकस्मिकता के कारण करज़ोर बना देता है। मुझे इस कहानीकार की कथनशैली प्रभावशाली लगी। इनके कथन में जो सहज प्रवाह है वह इनकी प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है।

विजय सहगल ने शहरी मध्यमवर्ग और ग्राम्य अंचल की कहानियां लिखी हैं। मध्य-वर्गीय जीवन की विसंगतियों को विजय सहगल बहुत खूबसूरत ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। 'आधा-सुख' में महानगर में जी रहे मध्यवर्ग की मानसिकता और जीवन के मूलभूत सुखों में से केवल आधा सुख ही प्राप्त कर पाने की उसकी क्षमता बड़ी निर्भयता से प्रकट हुई है। 'विरासत' कहानी का डरावर सूबासिंह एक ग्रामीण पात्र है। लेकिन यह कहानी, कहानी न होकर रेखा-चित्र बन गई है। कहानी और रेखाचित्र में मूलभूत अंतर यह है कि कहानी में तनाव की स्थिति आवश्यक होती है, यह कहानी तनावमुक्त है, अतः रेखाचित्र के रूप में ही ग्राह्य है।

पिछले कुछ वर्षों से बद्रीसिंह भाटिया भी कहानियां लिख रहे हैं। इनका पहला कहानी संग्रह 'ठिठके हुए पल' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। भाटिया के पास कथा कहने का अंदाज़ है। वह प्रायः ऐसे क्षेत्रों से कहानियां चुनता है, जिसकी पूरी जानकारी उसके पास होती है। अपने कर्मस्थल में बैठे-बैठे वह मिलने-जुलने वाले लोगों की कहानियां सहज ही गढ़ लेता है जैसे 'चोसों'। उसने गांव की कहानियां ज्यादा लिखी हैं। कहीं गांव से बाहर नौकरी करने वालों के पीछे छूट गये परिवार की त्रासदी है तो कहीं चुनाव को लेकर जातीय द्वंद्व की कथा है और कहीं गांव में उस भ्रष्टाचार का उल्लेख है जहां एक दूसरे की ज़मीन हड़पने की कोशिशें अभी तक चल रही हैं।

भाटिया भी जल्दबाज़ी में डिटेल्स भूल जाता है। जैसे 'सिरि महासिरि' कहानी में पढ़े अफ़सर की अनपढ़ बीवी भला सारे परिवार का हिसाब किताब कैसे रखती होगी? वैसे ही 'नंगावृक्ष' कहानी में नायक उधार लेकर शादी करता है, गांव का बनिया उसे उधार देता है, ज़मीन जो भी है, ऊसर है। लेकिन जब घर में शराब का दौर चलता है तो बंदगोभी की भुजिया, ककड़ी के टुकड़े, टमाटर, बढ़िया सलाद, रोटी साग और ऊपर से मक्खन कहां से आ जाता था। वह भी विवाह के कुछ दिनों बाद? लगता है कहानीकार कहानी को आगे बढ़ाते हुए पिछली तफसीलें भूल जाता है, जिससे कहानी की प्रभाव डालने की शक्ति क्षीण होती है। इसके बावजूद कहानीकार में ग्रामीण परिवेश की पकड़ सटीक और प्रभावशाली है।

कांगड़ा के ग्राम्य जीवन की अंतरंग झांकियां गौतम शर्मा 'व्यथित' के कहानी संग्रह

'उसके लौटने तक' में संकलित कहानियां प्रदर्शित करती हैं। इनकी कहानियां यद्यपि एक क्षेत्र विशेष के जनजीवन से जुड़ी हुई हैं लेकिन इस क्षेत्र विशेष के जीवन की हल्की धड़कन इनकी कहानियों में स्पंदित हुई है। गांव में घटित होने वाले परिवर्तन को भी ये कहानियां रेखांकित करतीं हैं। यहां के रीतिरिवाज, आर्थिक सामाजिक विषमताएं और बातचीत का एक खास ढंग जिस तरह 'व्यथित' की कहानियों में चित्रित हुआ है, वैसा इस क्षेत्र के अन्य कथाकारों की कहानियों में नहीं। इनकी एक मात्र कमी यही है कि कथाकार घटनाओं और पात्रों का संयोजन बड़े मनोयोग से करता है लेकिन कहानी का अंत पहले से सोचे गये रूप में कर देता है। जैसे 'उसके लौटने तक' कहानी में एक खेतिहार मजदूर की कहानी है जिसमें रोसो चंडीगढ़ में नौकरी करते हुए घर आता है तो अपनी पत्नी के चरित्र में परिवर्तन लक्षित करता है; और सुबह उसकी लाश एक नाले में पाई जाती है। ये कहानियां रुके हुए जीवन के चित्र तो पेश करती हैं लेकिन जीवन की गति और दिशा देने के संकेत नहीं देतीं। इसलिए ये कहानियां कांगड़ा के लोकजीवन के फोटोग्राफिक चित्र मात्र बन गई हैं। जिनमें यथार्थ तो है, लेकिन रुका हुआ यथार्थ।

केशव हिमाचल प्रदेश के विशेष चर्चित कथाकार हैं। इनके दो कहानी संग्रह 'फासला' और 'अलाव' प्रकाशित हो चुके हैं। केशव की कहानी कला का अपना ही रंग है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात केशव की संवेदना है। यह संवेदना मानवीय रिश्तों और परिवेश के प्रति एक रागात्मक अनुभूति के रूप में प्रकट हुई है। वैसे भी हिन्दी कहानी का आठवां दशक संवेदनाओं के विविध आयामी विस्तार के लिए चर्चित रहा है। जिस तरह निर्मल वर्मा मानवीय रिश्तों का चित्रण करते हुए भाषा को एक नई आइडैंटिटि (पहचान) देता है यही उपक्रम केशव में भी है।

मुझे एक बात में केशव निर्मल से अलग लगता है, वह है लोकेल के प्रति संवेदना। निर्मल मानवीय भावनाओं, आवेगों और संवेगों के प्रति संवेदनशीलता प्रकट करते हैं जबकि केशव अपनी लोकेल के प्रति एक रागात्मक अनुभूति का जुड़ाव भी नहीं भूलता। शिमला का मौसम, मालरोड़, गलियां, नुक्कड़, मोड़ और रेस्तरां सबके सब केशव की कहानियों में बड़ी जीवंतता के साथ अंकित हुए हैं।

वैसे कहानियों में केशव का सरोकार प्रेम, निजता की रक्षा और पारिवारिक विघटन से ही ज्यादातर रहा है लेकिन कुछ कहानियों में केशव ने अपनी इस घेरेबन्दी को तोड़ा है और यहीं केशव की असली पहचान उभरती है। 'फासला' संग्रह की कहानी 'दरिंदे' 'अलाव' में संकलित 'छोटा टेलीफोन बड़ा टेलीफोन' और 'अलाव' ऐसी कहानियाँ हैं जो केशव के कथाकार को सामाजिक सच्चाइयों से संघर्ष करते हुए चित्रित करती हैं। 'दरिंदे' में केशव ने अपने अनुभव को प्रेम और रोमांस के घेरे से निकालकर व्यापक और नाजुक मानवीय रिश्तों से जोड़ दिया है। युवा मानसिकता को आज के हुक्मरान चाहे वह प्रिंसिपल हो चाहे सी० एम० ओ० पहचानने में चूक कर जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप आज का नौजवान बौखलाया हुआ-सा लगता है। आज की परिस्थितियां इतनी भयावह हो चुकी हैं कि हम दूसरे इन्सान के मनोभावों को, उसकी भीतरी ज़रूरतों को केवल पैसे की तराजू पर तोलते हैं, जिससे मानवीयता के श्रेष्ठ अंश लगातार गायब होते जा रहे हैं। व्यवस्था की यही भयावहता 'छोटा टेलीफोन बड़ा टेलीफोन' शीर्षक कहानी में भी चित्रित हुई है। 'अलाव' में केशव ने शहर से ग्राम की ओर रुख

किया है। इसमें मानवीय संवेदना का एक नया धरातल उपस्थित हुआ। गाँव की राजनीति बदलती हुई अर्थ व्यवस्था और इन सबमें टूटता हुआ आदमी जो ज़िन्दगी को उसकी आखिरी तपिश तक सेंकना चाहता है, इस कहानी के कथ्य को महत्त्वपूर्ण और सार्थक बनाते हैं।

सन् 1980 के बाद हिमाचल के हिन्दी कहानीकारों में कुछ नये नाम जुड़े हैं—जो अपने रचना कर्म से आश्वस्त करते हैं यद्यपि इनके निजी संग्रह फिलहाल नहीं आये हैं। ऐसे कहानीकारों में राजकुमार राकेश, रेखा, तुलसी रमण और प्रेम भारद्वाज उल्लेखनीय है।

राजकुमार 'राकेश' की एक कहानी 'पतलियों और मुंह के बीच' (विपाशा मई-जून 86) ग्रामीण परिवेश के बदलते राजनीतिक सामाजिक समीकरण को बड़ी निर्भयता से प्रकट करती है। साथ ही यह बात भी प्रकट होने लगी है कि जनता अब नेताओं की तिक्कड़मों को, जनता को बेवकूफ बनाकर अपना उल्टा सीधा करने की नापाक कोशिशों को धीरे-धीरे समझने लगी है। यह बदलाव इस कहानी को ग्रामीण परिवेश की आम कहानियों से भिन्न सिद्ध करता है। यह बदलाव यानि मानवीय रिश्तों में जुड़ने वाला नया रूप नरेश पंडित की कहानी 'छुनछुना' में भी प्रकट हुआ है। छुनछुना (विपाशा मार्च-अप्रैल 1987) की नायिका 'रेवती' दूसरा विवाह करने के लिए उससे तलाक लेने की फिराक में उसे कचहरी तक घसीट लाने वाले पति को एक 'छुनछुना' समझ कर हिकारत से जब देखती है तो हवलदार को सैकड़ों गोलियां एक साथ लग जाती है। इसमें सतायी जाने वाली नारी का स्वाभिमान है जो पति को देवता न समझकर उसे उसका सही रूप सुझा देती है। रेखा ने हाल ही के वर्षों में कहानियां लिखना शुरू किया है लेकिन अब तक सारिका, हंस, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि पत्रिकाओं में इनकी लगभग आधा दर्जन कहानियां छप चुकी हैं।

तुलसी रमण की कहानी 'चील' एक महत्त्वपूर्ण रचना है क्योंकि इसमें गांव की राजनीति का वह क्रूरतम रूप अंकित हुआ है जो प्रेम जैसे स्वाभाविक और नैसर्गिक तथा ग़ैर राजनीतिक मानवीय रिश्ते को भी अपनी चपेट में ले लेता है। प्रेम भारद्वाज की कहानी 'पड़ाव' के बारे में 'विपाशा कथा शिविर' में आये युवा कथाकार धीरेन्द्र अस्थाना की प्रतिक्रिया थी कि यह कहानी उन्हें राजस्थान के लोक कथाकार विजयदान देथा की याद दिलाती है। भारद्वाज ने चुहार घाटी के जनजातीय जीवन में नारी के जीवन को अंकित किया है। उनकी कथनशैली में एक अद्भुत आकर्षण है।

इस कालावधि में महाराज कृष्णकाव ने भी कई कहानियां लिखी हैं। इनका निजी संग्रह 'स्नोमैन' भी प्रकाशित हुआ है। प्रतिष्ठित कहानी पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित हुई हैं। इनकी 'नामज़दगी' 'नीलामी' 'बाई-पास' और 'स्नोमैन' कहानियां चर्चित हुई हैं। महाराज कृष्ण काव समसामयिक संदर्भ में मानवीय नियति के कथाकार हैं। 'नामज़दगी' में मध्यम वर्गीय महत्त्वाकांक्षाओं की नियति और 'नीलामी' में एक बूढ़े हातों की कर्ज में डूबी हुई नियति का निदर्शन हैं। 'स्नोमैन' में मैनशॉवनिज्म का प्रदर्शन करते हुए एक ऐसे युवक की संघर्ष-कथा है जो साम्प्रदायिक तत्त्वों का निशाना बन जाता है लेकिन हरप्रीत और उसके पति को बचाने में कामयाब हो जाता है। 'नामज़दगी' में कहानीकार ने नवधनाढ्य वर्ग पर व्यंग्य कसे हैं, लेकिन 'बाई-पास' को मैं इनकी एक अच्छी कहानी मानता हूं। इसमें निहित व्यंग्य बहुत सूक्ष्म और सटीक है। काव ने अफसरी वर्ग की उस मानसिकता का पर्दाफाश किया है जो वारदातों से कन्नी काटने में ही अपना भला समझते हैं। चाहे अपनी बीवी के पास ठीक समय पर पहुंचने

की बेताबी के कारण हो, चाहे आतंकवाद के भय से, चाहे अपनी नई मारुति कार को गरीबों के मैले खून से गंदा हो जाने से बचाने की विवशता हो—वह विपत्ति में फंसे आदमी से कहीं ज्यादा अपनी बीवी, अपने भीतर के डर या अपनी नई मारुति कार को प्यार करता है। अफसरशाही की इस जनविरोधी मानसिकता पर काव का यह हमला सशक्त और सार्थक है।

जहां तक कहानी का सम्बन्ध है सन् 1970 से 86 तक हिमाचल में तीन विशिष्ट आयोजन हुए हैं। सन् 1978 में 'हिमप्रस्थ' द्वारा अखिल भारतीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता का आयोजन, इसके बाद सन् 1982 में 'शिखर साहित्य मंच' द्वारा आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता तथा भाषा एवं संस्कृति विभाग द्वारा आयोजित जोगेन्द्र नगर का 'विपाशा कथा शिविर'। इन आयोजनों से हिमाचल की हिन्दी कहानी में गति आई है, जिसके परिणाम स्वरूप नये कथाकारों की एक सशक्त पीढ़ी अपनी रचनात्मक सक्रियता से कहानी के स्वरूप और शिल्प को नया विस्तार दे रही है। इस पीढ़ी के नवोदीयमान कथाकारों में अरुण भारती, एस० आर० हरनोट, देवेन्द्रसिंह चौहान, दीपा त्यागी, राजकुमार 'राकेश', नरेश पण्डित, गौतम 'व्यथित', अशोक सरीन, पी० सी० के० प्रेम, त्रिलोक मेहरा आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

1980 के बाद हिमाचल की हिन्दी कहानी में कई नये हस्ताक्षर शामिल हुए हैं। इस कथायात्रा में कई नये शिखर उभरे हैं। कहानी में हिमाचल के लोकजीवन की सही पहचान उभर रही है। पहली बार लग रहा है कि हिमाचल के पहाड़ अपनी पूरी अस्मिता के साथ हिन्दी कहानी की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। पहाड़ों की प्रकृति का चित्रण ही मुख्य बात नहीं है। पहाड़ों की इस सुरम्य प्रकृति के बीच पहाड़ी जीवन का संघर्ष, पारिवारिक जीवन और उसकी निजी मर्यादाएं, परिस्थितियों को जांचने-परखने का अपना अलग ढंग, स्वभाव की सरलतापूर्ण पेचीदगियां, बातचीत का निजी सलीका और सामाजिक-आर्थिक बदलाव के प्रति एक विशिष्ठ नज़रिया सब कुछ आने लगा है। इसलिए मुझे लगता है कि इस दौर की कहानियों में पहाड़ का समग्र अस्तित्व अपनी विशिष्ठताओं के साथ उभर रहा है।

हो सकता है कोई महत्त्वपूर्ण कथाकार इस आलेख में अछूता रह गया हो, लेकिन उसके छूट जाने में किसी तरह की उपेक्षा का भाव नहीं है बल्कि उसकी रचनाओं से इन पंक्तियों के लेखक का अपरिचय ही हो सकता है। दूसरे कुछ कथाकार मित्रों को मेरी राय से असहमति हो सकती है और आलोचना अप्रिय लग सकती है। इस सन्दर्भ में मैं सारिका (अप्रैल-86) में राजेन्द्र यादव की इंटरव्यू का यह अंश प्रस्तुत करना चाहूंगा—"अगर मैं अपने किसी दोस्त को बेकार आदमी या सुविधाओं के पीछे पागल कहता हूं तो वह मैं ही तो कह सकता हूं, सभी तो कह नहीं सकते।" मैंने भी अपने कथाकार मित्रों की आलोचना इसी भाव से की है।

[राजकीय महाविद्यालय, कुल्लू हिमाचल प्रदेश]

कहानी

कालाठांख का मसाण

□ योगेश्वर शर्मा

अपनी झोंपड़ी में बाण की खाट पर कसमसाते हुए जीवणू ने आज भी वही बात सोची जो वह रोज़ सोचता था। न जाने कब की खाट है और कब का जीवणू !

पिछली बार जन-गणना के कागज़-पत्तर लिए पटवारी सिवराम ने उससे पूछा था, "उम्र कितनी लिख दूं, जीवणू ?"

"क्या उम्र लिखनी है पटवारी साहब ? जितनी कट जाए ठीक है। फिर भी लिखना चाहते हो तो लिखो। जब मैंने कालाठांख के मसाण को साधा था तो बस दाढ़ी, मूंछ भर आई थी और उस टैम घी आता था एक आने का दो छटांक नखालिस।"

पचपन साल के पटवारी सिवराम ने मन ही मन हिसाब गुनाया और उम्र लिख दी पैंसठ साल।

पैंसठ साल लिख दी तो पैंसठ ही सही !

दिन-भर चिलम फूंकता है, ऐंठता है, कसमसाता है। 'कलयुग' ने तो आना ही था लेकिन 'मरज्यूणा' जल्दी आ गया। बस यही कचोट 'हिए' में घन की तरह बजती रहती है। मोतियाबिंद पड़ी आंखों को फाड़-फाड़ कर देहात के कच्चे-पक्के घरों से आदमी की गंध सूंघता है। कोई आए और उसके 'सच' को सुने !···दूर शहर के दसियों नुक्कड़ उसके ज़ेहन में सुल्फे की लौ की तरह कौंधते हैं—साफ, उजले। जीवणू का एक हाथ डुगडुगी पर होता और दूसरा मन्तर वाले डंडे पर, "ऐ जमूरे, जो पूछूंगा, सच-सच बतलाएगा ? ऐ, बच्चा लोग ताली बजाएगा। जोर से। 'मसक' खाली है कि आवाज़ नहीं फूटती। बस चट्-चट्। ताली बजे कि लगे 'टमक' बज रहा है। नगाड़े की ढम-ढम की तरह जैसे 'छिंज' में होती है। हां ऐसे, शाबास। ऐं लड़की लोग—जाओ बेटा, घर जाओ। तुम्हारी मां देखती है घर में। हां-हां शाबाश, जनानी लोग नहीं चलेगा।···हां तो भाईयो, बुजुर्गो, बच्चो···साहब लोग आप पैंट से हाथ बाहर निकाल लें। जीवणू ने मसाण को साधा है। यह जीवणू नहीं बोलता। जीवणू का जमूरा नहीं बोलता। कालठांख का मसाण बोलता है। अभी मसाण आयेगा यहां। जिसका कलेजा छछूंदर का हो, वह चुपचाप खिसक जाए यहां से, वर्ना नाहक अपना पाजामा गीला करेगा। हां तो जमूरे···"

भीड़ में से कोई बोल पड़ा, "अरे भाई बाजीगर, सच बोलना है तो मुंह उघाड़ी करके बोल। यह क्या चादर में मुंह ढांपकर सच बुलवाता है।"

जीवणू ने हाथ जोड़ दिए, "देखिए मास्टर जी, मसाण ने कहा था कि 'टैम' आयेगा सच

बोलने वाले चादर से मुंह ढांपकर जुबान से खाली फुस-फुस करेंगे और हर नुक्कड़ पर मजमे की तरह 'इस्तहार' बनाकर 'टापे' जायेंगे। मैं तो जमूरे की सिखलाई कर रहा हूं कि बेटे तैयार हो जाओ। एक दिन ऐसा भी आयेगा। राम भली करें। हम जीएं। आप भी जीएं सब भाई लोग। देखेंगे क्या होता है ?"

चिलम बुझ गई थी, गठिया का मारा जीवणू बड़ी मुश्किल से खाट से उतरा। उपले से आग सरकाई, लेकिन चिमटे से हाथ में फफोले आ गये। बहुत कुछ गड्मड् हो जाता है इस उम्र में। उम्र की भी खैर ऐसी कोई बात नहीं लेकिन 'सोच' का ज़लज़ला चिलम के सुट्टे को दूसरी तरह से भभका देता है। जिस चिमटे से आग निकालनी होती है, उसे 'मन्तर' का सोठा समझ लेता है और पूरा का पूरा हाथ से मसल देता है। ज़ोर से पटकता है धरती पर, "ऐ जमूरे !"

कहां का जमूरा और कहां का जीवणू !

गांव के कुछ बुजुर्गों ने कहा था कि जीवणू 'हरड़पोपो' है। जानता-वानता कुछ नहीं है। कोई मसाण नहीं साधा है उसने। खाली बेवकूफ बनाता है लोगों को। लेकिन गांव के लोगों ने यह भी कहा कि जीवणू जैसा भी है, हमारा है, इस गांव का है।

लेकिन बात बैठ गई उसके मन में। कुछ जवानी की तरंग, कुछ मसाण को साधने की 'हुड़क'। झोंपड़ी में ताला लगाया और निकल आया बाहर। फिर तो उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम देश-देश घूमा। जिस भी शहर का कोना, नुक्कड़ हाथ में आया उसने अपनी डुगडुगी बजा दी।

"आ गया, जीवणू बाजीगर आ गया।"

वह लोगों का 'सच' बोलता था। टोना टोटका, 'ओपरा', 'परछावां', 'भूत-परेत का लपेटा'—सब इलाज करता था अपनी 'विधि' से। संझा तक दो-चार रुपये का जुगाड़ हो जाता था। कभी 'नागा' भी जाता था लेकिन कोई फिकिर नहीं। एक आने का डेढ़ छटांक नखालिख घी उस टैम भी मिलता था। जीवणू एक कौर आंखें मूंदे 'मसाण' को भेंट कर देता बाकी खुद हड़प कर जाता।

'हौका' केवल इसी बात है फि 'सच' की कमाई में जोड़-बचत इतनी नहीं हो पाती कि बुढ़ापा ढंग से कट जाए। बस वही झोंपड़ी है। वही बाण की खाट। वही चिमटा है और वही चूल्हा है। सारा दिन राख उड़ती है। जिसे सुगन्ध कहते हैं, वह बहुत पहले छूट गई। फिर भी एक सुगंध है जो बुढ़ापे की हड्डियों में जेठ की दुपहरी की तरह लहू-सी तिरती है भीतर-भीतर। 'फूंकारा' मारती है। वह है रामकली—उसकी तीसरी बीबी।

वह चिलम फूंकते हुए पूख के धुंधलके में रामकली की राह देखता है। अभी आती ही होगी बड़ी हवेली में काम निपटाकर।

दो शादियां की थीं पहले। वे तो खुशी-खुशी में हो गई। गबरू जवान जीवणू सिर पर साफा-कल्फ लपेटे, हड्डी, जन्तर-मन्तर कौड़ी-माला जाने क्या-क्या समेटे अपना भीमकाय थैला लटकाकर जब चलता था तो उन दिनों सचमुच जमीन हिलती थी। 'खड़ंग' रोब से लेकिन दिल का साफ। हर बीबी को दिल से चाहता था लेकिन बाहर से उन पर भी कभी-कभी चिमटा चला देता था। बेचारी दोनों बीवियों को शिकायत रही कि जीवणू रात को भी जमूरे-जमूरे की रट लगाए रहता है। फिर जिस 'सच' की वह बात करता है, वह बड़ा डराने वाला सच था।

पहली घरवाली ने हिम्मत करके बोल ही दिया था एक रात, "यह मजमा लगाकर बीच बाज़ार डुगडुगी बजाना कब तक चलता रहेगा जी। एक बेटा है उसको भी तुमने 'जमूरा' बना

दिया है। मेरी मानो। कोई और काम…"

बस जीवणू पर जैसे मसाण सवार, "खबरदार, आगे से कोई ऐसी बात की तो। क्या कमी रखता हूँ तुम्हारे साज-सिंगार में ? खाने-पीने को सब कुछ मिलता है। शहर-शहर घूमती हो मेरे संग। गांव में कितने लोग हैं जिन्होंने अभी 'नज़ीक' का शहर तक नहीं देखा ! मायके में क्या था जो यहां…"

हाथ उठ गये थे जीवणू के। फिर खुद ही पछताने लगा। नाहक मारा। दर-दर भटकती है बेचारी मेरे कारण। कभी सराय में, कभी खुले में बांस गाढ़कर टाट के छप्पर के नीचे।

मनौवल करने लगा "कही सुनी माफ कर दे भाई। ले रबड़ी लाया हूँ तेरे लिए। इस शहर की खास मिठाई है। खा ले चटपट।"

उस दोना भर रबड़ी को जीभ से चपड़-चपड़, चाटकर, चिमटे की मार भूल जाती थी जीवणू की घरवाली। जीभ पर रबड़ी का मरहम लगा कि पीठ पर चिमटे के घाव नदारद।

जीवणू के भीतर और गले में कुछ फंस-सा गया है। गांठ-सा, रूलाई के बड़े से गुच्छे की तरह जो सीलन भरी दहलीज़ पर पड़ा-पड़ा किवाड़ ढांपने से दब गया हो और उसमें 'काईयां' फूट निकली हों।

उसका पहला बेटा डुगडुगी की आवाज़ पर कांप-कांप उठता था। नन्हीं-सी जान, उस पर 'मसाण' का बोझ ! जीवणू हरबार दिल को कड़ा कर लेता था। फिर यह खानदानी 'बिदया' हर किसी को तो दी नहीं जा सकती थी। उसकी बीवी मन ही मन बिदकती। खैर मनाती थी हर दिन, कि बेटा ठीक-ठाक 'डेरे' पर लौट आए। जीवणू हंसी-हंसी में बात टाल देता था, "तू तो नाहक दिल छोटा करती है। देखना, हमारा यह छोकरा एक दिन खानदान का नाम ऊंचा करेगा। मुझसे 'ज़ियादा' सच बोलेगा।"

उसकी घरवाली को अन्त तक विश्वास नहीं हुआ। खुद भी गई और कुछ दिनों बाद बेटा भी हाथ से जाता रहा। अलग-अलग दवाखानों में इलाज करवाया बदल-बदल कर। रात को सोये-सोये छोकरा बुड़बुड़ाने लगा, "मसाण आ गया, मसाण आ गया।"

जीवणू जब तक 'मन्तर' फूंके, बेटा ज़मीन का अन्तिम सत्य बोल गया था।

'हवका' लगा बहुत 'जियादा'। दो चार महीनों तक सब काम ठप्प। गांव लौट आया। दूसरी शादी कर ली। फिर वही सिलसिला। इस शहर से उस शहर तक 'सच' उगलवाने का लम्बा सिलसिला !

उसकी दूसरी बीबी शहर-शहर डोलती। बड़ी-बड़ी कोठियों, लम्बी चौड़ी सड़कों पर, टुकुर-टुकुर, अपने मायके का 'परछावां' ढूंढ़ती। अपने 'डेरे' पर डरी-सहमी, रूंधे गले से हल्की-सी तान छेड़ देती—इतनी हल्की कि बस अपने कानों तक सुनाई दे, "पारलिए धारे, तू नींवी हुई जायां, बापूए रा देस मिजों देखणा देयां।"

लेकिन यहां धार-पहाड़ कहां थे ! उसे ज़रूर यह महसूस होता था कि शहर का यह पूरा जमघटा, नुक्कड़ों पर 'परदेशी' लोगों का जमवड़ा, किसी धार-पहाड़ से कम ऊंचा नहीं है। जीवणू ने उसे झूमके भी बनवाये। 'चाक' भी बनवाया। नाक की 'तिल्ली' चांदी की थी, वह सोने की बनवा दी। कचौड़ियां, आलू-छोले, भटूरे, मसालेदार चटपटी चाट, दोने भर-भर कर रबड़ी खिलाई। सिनेमा ले जाकर 'जय बजरंबली' के 'दरसन' कराये। कैसे हनुमान जी संजीवनी बूटी लाते हैं, वह बगल में बैठा समझाता रहा। लेकिन संजीवनी बूटी अपनी बीबी

को कैसे लाये ? टोना-टोटका इलाज किया सब खुद। उसके पेट में बच्चा था। जीवणू उसके पेट से अपने कान को सटा लेता और मन्तर के सोठे को घुमा देता, "जमूरे, सच-सच बोल।" और जीवणू को मद्धम-सा सुनाई देता कि उसका अजन्मा बेटा 'सच'बोल रहा है। उसकी बीवी डर जाती। उसे 'हौका' लगा रहता कि जो पहले हुआ, अब भी होगा। 'सफाखाने' में दाखिल करवाया उसे। लेकिन 'सहरी डाक्टरनी' मुंह लटकाए बाहर निकली और इधर-उधर देखा। फिर पूछा 'जीवणू कौन है ?' जीवणू आगे आया लेकिन डाक्टरनी ने 'सौअरी' कह दिया। मां और बच्चा दोनों गये। जीवणू का जी हुआ दहाड़े मार-मार कर रोये।

'होनी' को पैबंद लगाने वाला जीवणू 'मसाण' को भी ललकारने की हिम्मत रखता था, लेकिन हार गया ऐन मौकों पर। होनी को पैबंद नहीं लगते भाई साहब। बस यहीं गलती होती रही मुझसे। लेकिन मुझे 'खुसी' है कि मेरे बेटे सच बोलते हुए मरे। फिर आप तो जानते हैं, जो बहुत सच बोलता है अकाल मौत मरता है।

कालाढांख के मसाण ने साफ-साफ कह दिया था, "देख जीवणू, साथ तो तूने लिया मुझे मनमुराद भी तेरी जैसी-तैसी पूरी हो जाएगी। रोज़ी-रोटी खूब चलेगी। लेकिन तेरा अंत बुरा होगा। तुझे खुशी भी मिलेगी बहुत, और दुःख भी मिलेंगे बहुतेरे। सोच ले, फिर न कहना !"

नहीं कहूंगा जी। जो भोगना था, भोगा है। जो सहना था, सहा है। अब अन्त तो बुरा होगा ही। जीवणू तैयार है।

जोड़ों में दर्द उठता है तो पिछली सारी बातें मीठी, कड़वी छांट-छांट कर वह 'झोली' से निकालकर मानो 'चुग्गों' की तरह अपने सामने बिखेर देता है, और अपनी आंखों, कानों, मुंह, हाथों से बटोरने लगता है फटाफट।...

सूरज की धूप पीपल की फुनगियों पर बैठी है और उधर हनुमानबाड़ी में बच्चों का जमावड़ा हो गया है। जाने क्यों बैठे-ठाले जीवणू को बड़ी तरंग आती हैं कभी-कभी कि जहां भी बच्चों-बड़ों की भीड़ देखी, चल दे अपना थैला डंडा उठाए और हो जाए शुरू "ऐ जमूरे..."

लेकिन अब यह काम उसने काफी पहले छोड़ रखा था। वक्त बदलने लगा था। लोग 'सच' सुनने से कतराने लगे थे। बच्चा लोग बैठे रहे तो बैठे रहें, बड़े लोग डुगडुगी की आवाज सुनकर चुपचाप खिसकने लगे थे। फिर शहर में ऐसी कौन-सी जगह बची थी खाली, जहां जीवणू अपना थैला भर जमा सकता। एक बात और हुई अजीब-सी। पहले वह शहर में आदमी को देखकर चहकता था। अब शहर में आदमी को देखकर डरने लगा। अगली कतार में खड़े कुछ लोग एक दो बार उसकी रेज़गारी का थैला ही उड़ा ले गये।

इसलिए वह चुपके से गांव भाग आया। 'मरना कासी या बासी'। संयोग की बात कि यहां मरने आया था लेकिन ढलती उम्र में तीसरी शादी कर बैठा। खुद था करीब पचास साल का और रामकली थी सोलह की। सुतवां नाक, भरी-भरी देह। जात बिरादरी की थी लेकिन दूर के रिश्ते में। रामकली के बाप ने जीवणू के पैर पकड़ लिए।

वह घिघियाया, "अब मेरा कौन है ? यह छोरी है रामकली। पिछले चार साल से बीमार चल रहा हूं। वैद जी से दवाई ले रहा हूं लेकिन कोई फरक पड़ता दिखाई नहीं देता। घरवाली थी सो पिछले साल छोड़ गई। अब इस लाड़ली छोरी को किसके भरोसे छोड़ जाऊं? एक तू है। बस इसको पाल लेना। अच्छा लड़का मिले तो इसके हाथ पीले कर देना। मेरी आत्मा को चैन मिल जायेगा।"

जीवणू ने वायदा कर दिया कि वह रामकली की पूरी देखभाल करेगा और बुड्ढे ने पीपल की डार पर अटके सूखे पत्ते की तरह अपने प्राण छोड़ दिए।

इसके बाद रामकली जीवणू के घर आ गई और उसके साफे को उलट-पुलट कर खाट पर उटंगा कर दिया। झोले में धरी हड्डी, कौड़ी, डंडा, माला सब 'गुथमुथ' कर दी। पहले डरी। फिर फिच्च करके हंस दी।

"तू शहर में क्या-क्या बनता था ताऊ ?"

'ताऊ' ठीक मसाण के धक्के सा बैठा हिये में। वह हकलाया, "जा, घड़ा भर ला पहले 'नौण' से। बहुत प्यास लगी है।"

अलहड़ किशोरी रामकली ने सोचा कि सचमुच प्यास लगी होगी लेकिन जीवणू जानता था कि यह 'प्यास' कैसे-कैसे लगती है ?

इस उम्र में अकेले रहना उसे यूं भी भारी लग रहा था। फिर वही लचक-लचक भरी गदरायी देह, नाक कैसी ढली हुई। घड़ा सिर पर उठाए कमर में हिचकोले पड़ने लगे—और जीवणू ने सचमुच साफा बांध लिया एक दिन। फिर उसने शहर में सीखी हुई तमाम कायदों-बातों से रामकली को अपने मनकी सारी बात कह दी। पहली दो बीवियों को जो थोड़े बहुत गहने बनवाए थे, सब रामकली की झोली में डाल दिए। रामकली हुड़की, लेकिन सोने के चमचम छल्लों और जीवणू की काया के एकदम नये रंगों को देखकर उसने 'ना-नूं' में 'हां' भी कर दी।

गांव में शोर हुआ। 'ग्रामीण-सुधार-सभा' में प्रस्ताव रखा गया कि जीवणू अब 'मच्छी का भोग' है और रामकली है एक नाबालिग लड़की। सभा के कुछ सदस्य ऐसे भी थे जो हाट-घराट जाती रामकली को पीछे से सीटियां बजाया करते थे। नहीं होने देंगे वे ऐसा अन्याय !

जीवणू के पास खबर पहुंची। वह चिमटा लेकर सिर हिलाने लगा।

"मसाण का 'सराप' पड़ेगा सब पर। वह मन्तर मारूंगा कि···"

लोग डर गये। वर्षों से एक भय भी बैठा था मन में कि उसने कहीं सचमुच मसाण न साधा हो। यहां उत्तर की ओर कालाढांख की पहाड़ी भी है और बुढ़े बरगद के पास मसाण भी। मन्तर, जादू, टोना-टोटका, ओपरा—जाने क्या-क्या कर दे !

लोग चुप्पी साध गये।

"मरना है तो मरे रामकली और भाड़ में जाए जीवणू। हम क्यों 'परपंच' में पड़ें ? चलो सब अपने-अपने घर। सभा बर्खास्त।"

जीवणू के जी में आया कि सारा तामझाम लेकर रामकली के संग एक बार फिर शहर निकल जाए। लेकिन अपना ढलता यौवन और रामकली की चढ़ती जवानी, फिर वक्त की संजीदगी को परखकर हिम्मत नहीं पड़ी। इसी बीच पांच साल गुज़र गये। रामकली के बेटा हुआ। किसी तरह गुज़ारा चलता रहा लेकिन एकाएक जीवणू को गठिए की मरज़ ने धर दबोचा और आंखों में मोतियाबिंद पड़ गया। एक बार खाट जो पकड़ी तो पकड़ ही ली। हार-थककर रामकली को ज़मीदार साहब की हवेली में बर्तन धोने और 'झाड़ू-पोचा' देने का काम करना पड़ा। जीवणू ने दो चार बार इनकार की। डांटा भी। लेकिन अब इस डांट में एक निरीह-सी दुर्बलता आ गई थी। इधर जीवणू दिन-ब-दिन काया और बचन से कमज़ोर पड़ता चला गया और उधर रामकली कुछ ज़्यादा तेज़तर्रार हो गई। आठों पहर बुड़बुड़ाहट।

"अभागे रो शादी भी की तो किस उमर में । सिर का कोई बाल काला न था ।"

लेकिन जीवणु की सेवा टहल में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी, डर भी बैठा था मन में। 'मुआ' बार बार कहता है कि वह मन की बात ताड़ लेता है झट्ट से । अपने जमूरे से सच-सच उगलवा लेता है।···

अपनी बड़ी-बड़ी आंखों को फैलाकर वह दुनिया को अजीब-सी निगाहों से देखती। उसे ख़याल था कि उसके अरमान बड़े हो सकते हैं। उसके सपने साकार हो सकते हैं। उधर बड़ी हवेली में नौकरी क्या की, उसे 'रीस' की 'फिटक' पड़ गई। जीवणू से शहर की समृद्धि, संपन्नता की कहानियां सुनती और बाजरे को 'सूप' में फड़काते हुए दिमाग की पोरों में न जाने क्या-क्या हिसाब लगाती रहती। जीवणू के झोले, साफे को देखकर उसने सोचा था कि वह उसे शहर-शहर सैर कराएगा। सिनेमा दिखलायेगा। लिपस्टिक, पाऊडर···जैसा-जैसा वड़ी हवेली में देख सुन आती है, इसी तर्ज पर मुनमुनाने लगती है। गुस्से में अबोले बोल भी निकल जाते हैं। फिर दो घड़ी में चुप्प। जीवणू खाट पर कसमसाता है। एक-आध चिमटा मारने की तरंग आती है परन्तु खाट से आगे नहीं बढ़ पाता! कचर-कचर बुड़बुड़ाता है। सोचता है कुछ, फिर वह भी चुप्प।

" 'रीस' की कुटैव छोड़ दे रामकली। जाने क्या-क्या देख आती है ज़मीदारों की हवेली में, कि आते ही बकर-वकर करने लगती है। छोड़ दे यह सब कुछ। बस 'खुश' रहा कर।"

और जीवणू 'खुस', रामकली 'खुस'। गुल्लीडण्डा खेलता उनका बेटा हरिया बापू, अम्मा के नखरे देखता है। मनुहार सूंघता है और गुल्ली को डंडे से उछाल देता है, दूर "वह गई।"···

जीवणू को चिलम के सुट्टे से फुरसत नहीं। सोच के 'जलज़ले' में बहुत कुछ धुंधला-उजला दिखाई देता है। गांव के ज़मीदार अब नेता बन गये हैं! बड़े ज़मीदार साहब जब मरे थे तो उनका यही लड़का, जो अब नेता बन गया है, भरी पंचायत में, भरे गले से एलान करता फिरता था कि छोटा बड़ा अब कोई नहीं हैं। सब बराबर हैं। आगे से कोई उन्हें ज़मीदार साहब कह कर न पुकारें। लोगों ने आंखें बन्द करके पांच मिनट तक तालियां बजायीं थीं, धन्न हो महाराज!

कल का लौंडा—जिसे गांव-देहात की बहू-बेटियों तक का लिहाज़ नहीं था। आठों पहर कोई न कोई शरारत सूझती थी। अब नेता बन गया है। धत्ततेरे की! नीयत कैसी और नेता कैसे!

लेकिन, लेकिन क्या? वे बने हैं नेता! कर रहे हैं मौज। बना रहे हैं उल्लू सबको। लूट रहे हैं, जैसे पहले लूटते थे। उनके बच्चे शहर के अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते हैं। कभी छुट्टियों में घर आते हैं तो गांव के बुजुर्गों को देखकर मुंह बिचका देते हैं।

छोटे ज़मीदार ने तभी एक दिन उनके कान में खानदानी मन्त्र फूंका, "ऐसे मत किया करो बेटे, पहले ये लोग बंधुआ मज़दूर थे, अब ये हमारे मतदाता हैं।"

उनकी कोठी ऐसे खड़ी थी जैसे सारे गांव की छाती पर मूंग दल रही हो। रामकली जानती है कि बड़ी हवेली में कुछ ऐसा 'डौल' कर रखा है मालिक लोगों ने कि गर्मी में सर्दी लगे और सर्दी में गर्मी। चीलपांखी की तरह हवा में ऊपर-ऊपर उड़ने का 'गुमान' होता है। रामकली की हिम्मत नहीं होती थी कि ऐसा कोई सपना भी देख सके। एक-आध सपना आया था रामकली को, एक रात कि हवेली के आंगन में पालकी उतरी है। झकाझक नथ नाक में। होगी कोई

पांच तोले की ! टिकली-बिंदली सब । गहनों से लदी-फदी 'लश्कारा' मार रही थी । ऊपर चौथी मंजिल से, पैंट कोट डाले, छैल छबीला, गबरू जवान, साहब बना जीवणू हाथ हिला-हिलाकर इशारा कर रहा था । हवेली के सभी नौकर-चाकरों को डांटती फटकारती रामकली जा रही थी सीधी ऊपर, गर्दन ऐंठकर, कि सीढ़ी से पैर जो फिसला तो चीख निकल गई । खाट पर सोया जीवणू 'हौका' लेकर चौंका ।

"क्या हुआ ?"

रामकली के जी में आया, कह दे, "मर मुए, तूने क्या सुख दिए हैं मुझे ? आज भी जहां खड़ा था, वहां खड़ा रहता दो घड़ी, तो क्या बिगड़ जाता तेरा ?·· सब 'सत्यानाश' कर दिया ।"

लेकिन चुप रही ; घड़े से लोटा भर पानी निकालकर गटागट पी गई। दुबारा नींद लेने के लिए यूं ही पूछ बैठी । "क्या 'टैम हुआ होगा ?"

" 'सायद' दो पहर रात हो चुकी है ।"

रात दो पहर जाये या तीन पहर। रात, रात होती है । दिन, दिन होता है !

जीवणू कराहा, "मेरी पीठ दाब दे ज़रा ।"

फिर रामकली जीवणू की पीठ दाबने लगी । जीवणू उसे अपने दिल-दिमाग के आले में संजोई हुई शहर की ढेर-सी खुशबुएं सुंघाने लगा ।

"समझ गयी न ! ऐसा होता है शहर । तू फिकिर मत कर । कभी ले चलूंगा तुझे वहां । मुझे उम्मीद है कि मैं ज़रूर ठीक हो जाऊंगा और शहर की आबोहवा भी बदलेगी । पढ़ा-लिखा कम हूं । लेकिन 'कढ़ा' हूं । घाट-घाट का पानी पीया है । तेरे ये ज़मीदार, नेता, ठाकुर मुझसे बात करके देखें । सबके 'सच' को जानता हूं । एक दिन डुगडुगी बजाकर सरेआम मजमें में उगलवा दूंगा अपने जमूरे से । तू क्या जाने क्या क्या 'गुन' हैं तेरे खसम में !

रामकली फिच्च से हंस पड़ी । हरिये को सोये-सोये पुचकारने लगी ।

"एक बात याद रख । अपने बेटे को तेरा जमूरा नहीं बनने दूंगी कभी । इसे स्कूल भेजूंगी । ज़मीदार साहब के बेटों-सा बनाऊंगी गोरा-चिट्टा, उजला साहब जैसा···"जीवणु खी-खी करके हंस पड़ा ।

सूरज की किरणें फूटने लगी थीं । पटवारी सिवराम हर रोज़ की तरह दरवाज़े पर हांक लगा रहा था । दोनों में खूब पटती है । पटवारी अखबार-पत्तर लेकर ऊंचे-ऊंचे समाचार पढ़ता है । पटवारी के विदा होते ही जीवणू घंटों तक समाचारों की जुगाली करता रहता है । पटवारी कहता है 'शहर' में 'करफ्यू' लगा है । लोग घर से बाहर नहीं निकल सकते । बड़ी अजीब बात है ! जिन-जिन नुक्कड़, चौराहों पर वह बैठता था, वहां कैसी मुर्दनी छायी होगी आजकल ! मसाण की तरह लम्बी, पसरी चुप्पी ! भयानक ! जिनमें आदमी के रोएं-रोएं कांप जायें ! बारूद की गंध में शहर के लोग कैसे सांस लेते होंगे ? शहर के नक्शे में तोप, मशीनगन, पुलिस मिलटरी के जवानों के भारी भरकम बूट वहां के तमाम मदरसों को ढांप चुके होंगे ! अब कौन बच्चा निकल सकेगा बाहर कि जीवणू की हांक सुन सके ! आग, धुंएं के धमाकों में उसकी डुगडुगी की आवाज़ मद्धम पड़ती चली जायेगी । वे उसका झोला चिमटा दूर फेंक देंगे । कमर पर लात मारेंगे ज़ोर से ।

"जा भाग यहां से। भाड़ में जाए तेरा सच !"

इस शहर के, उस शहर के आदमी को यह क्या हो गया है ?

आदमी मिल बैठकर, अमन, प्यार से न रह सके तो और कौन-सा जीव इस 'धरम' को निभायेगा ?

जीवणू का दिल कांपने लगा है सांय फांय। उसका भी कुछ फर्ज़ है। उसे 'सच' की आवाज़ हर हालत में बुलंद करनी होगी। वह पूरब की ओर देखने लगा ! शायद रामकली आती ही होगी।

आंखते-कांखते वह किसी तरह खाट से नीचे उतरा। संदूक में रखे हुए अपने झोले को बाहर निकाला और धूल झाड़ने लगा। एक-एक चीज़ उसने आज, वर्षों के बाद, बड़े सलीके स बाहर निकाली और लड़खड़ाते कदमों से बाहर निकलकर अपने बेटे हरिया को आवाज़ देने लगा।

उधर रामकली को वापिस लौटने में आज थोड़ी ज़्यादा देर हो गई। बड़ी हवेली में बर्तन साफ करना, झाड़ू-पोचा देना—घंटों खप जाते हैं। रामकली 'फिरकी' की तरह चक्कर-घिन्नी काटती है। हर काम साफ सुथरा। पूरे जी-जान से काम करती है, लेकित बड़ी हवेली की 'साहणियों' के तेवर कुछ ऐसे हैं जैसे कमान पर चढ़ा हुआ तीर—नुकीला, ज़हरीला। देखने भर से आदमी बींध जाता है भीतर तक।

महीने-भर में अस्सी रुपये की पगार के लिए ये सारे तेवर झेलना बेमानी है। रामकली सोचती है—जान मारकर काम करो, ऊपर से हर वक्त जान सांसत में रहे। यह सब क्या है ?

रामकली की सीधी, साधारण समझ में दुनिया दो हिस्सों में बंटी है। एक में वे लोग रहते हैं जो रुपयों की 'गद्दली' पर लेटे हुए केवल हुकुम बजाते हैं। दूसरे में वे लोग हैं जो उनका झूठा बर्तन-भांडा मांजते हैं और गालियां सुनते हैं !

रामकली की इच्छा ही रह गई कि कभी हवेली की 'साहणियां' उसे हंसती, बातियाती दिखें, लेकिन उनके चेहरे हमेशा सख्त बने रहे। जबड़े बेहद भींचे हुए। मजाल कभी तारीफ का बोल फूट जाये। उसने बहुत झुककर देख लिया लेकिन उन चेहरों का 'पलस्तर' नहीं छूटता।

एक बार उसने अपने कानों से सुना था। बड़ी मालकिन कह रही थी किसी से, "रामकली हो या रामफली ! मैं तो कस के काम लूंगी। और तुम्हें भी कहे देती हूं इन लोगों को ज़्यादा मुंह नहीं लगाना चाहिए।"···

एक चुभती हुई बात उसे और याद है। ज़मीदार साहब के सबसे छोटे बेटे ने जब तुत-लाकर बोलना शुरू किया था तो रामकली को देखकर तुतलाया था, "आंती।"

बस, हवेली की 'साहणियों' के चेहरों पर सौ-सौ सिलवटें पड़ गईं। बच्चे को हल्की-सी चिकौटी काटते हुए पुचकारकर डांट दिया था, "आंती नहीं बेटे, महरी, नौकरानी।"

बच्चा नहीं समझा शायद। रामकली को समझ कम थी लेकिन न जाने उसने कैसे इतनी बड़ी बात सोच ली कि 'साहणियों' को कह दे, "बच्चे को मुआफ कर दो मालकिन। बच्चे हैं। बड़ों की तहजीब नहीं समझते !"

तहजीब शब्द उसने जीवणू से सीखा था। वह कहता था, "तू रही बुद्धु-गंवार। तहजीब सीख, तहजीब।"

न जाने कितनी खट्टी-कड़वी बातें उसे याद हैं। मन ही मन कुढ़ती है और हनुमान बाड़ी के मंदिर में माथा टेक आती है। बजरंगवली महाराज इस हवेली को हवा में ले उड़ें और वहां की 'साहणियों' को कालाढांख की 'टिकरी' से धड़ाम से नीचे फेंक दें।

विद्रोह किसे कहते हैं? यह रामकली नहीं समझती। लेकिन 'विद्रोह' करना चाहती है। वह हो रहा है। जानबूझकर नहीं, अपने आप हो रहा है एक विचित्र-सा विद्रोह! ड्राइंगरूम में झाड़ू बुहारी देते हुए कनखियों से उस आदमकद शीशे को देखती है और अपनी नाक का मिलान करती है बड़ी बहू की नाक से। मौका मिला तो झाड़ू-पोचा पटककर सीधी खड़ी हो जाती है··· और सामने हू-ब-हू रामकली! अपने रूप और 'जोवन' पर फिर खुद ही शरमा जाती है। बड़े-बड़े फोटू रक्खे हैं सामने। रामकली का जी हुआ है कि वह भी जीवणू के साथ एक फोटू खिचवाये। लेकिन यह सोचकर फिर खुद ही मुंह का स्वाद कसैला हो जाता है!

दो-तीन बार मौका देखकर वह उन मखमली, नरम गद्दों पर बैठी भी है। झूले की तरह। कभी ऊपर। कभी नीचे। बैठी कहां! बस उछलती रही है।

आज फिर उसका मन हुआ कि गुदगुदे गद्दों पर जी भर कर उछले। बड़ी मालकिन और बड़ी बहू ने आज फिर उसे खूब डांटा था और कहा था कि वह कामचोर है, आलसी है, मुफ्तखोर है···और न जाने क्या-क्या? उसे दसियों फालतू काम संभालकर वे आज अपनी गाड़ी में बैठकर शहर चली गईं थीं। रामकली ने चैन की सांस ली और मन ही मन सोचा कि गाड़ी कालाढांख के पास जरूर 'ढ़िग' से फिसलेगी। फिर उसने सब काम छोड़ दिए और सीढ़ियों पर 'उटकती' पहुंच गई ऊपर। ड्राइंगरूम में मखमली गद्दों पर धम्म से बैठ गई और कुछ गुन-गुनाने लगी।

वह उठकर आदमकद शीशे में अपने रूप को निहारना चाहती थी लेकिन नज़र उठी सामने। कलेजा धक्क से रह गया। मुंह में ऊंगली दबाई और ज़ोर से 'हाय दैय्या' चिल्ला उठी। आदमकद शीशा हवा में डोलता नज़र आया। गद्दे की मखमली छुअन कांटों-सी चुभने लगी। न उठते बना, न बैठते। आंखें फैलायीं, फिर नीची कर लीं। जी हुआ भागकर निकल जाये बाहर और धड़ाधड़ सीढ़ियां उतर जाए। लेकिन कुछ भी नहीं हुआ। बस निहारती हुई रह गई। ड्राइंगरूम के एक कोने में ज़मीदार साहब खुद 'कागदपतरा विखेरे कुछ लिख रहे थे और अब 'कागदपतरा' छोड़ बस एकटक उसी को देख रहे थे। चेहरे पर खिली मुस्कान थी। जिस अंदाज़ में रामकली चिहुंकी थी, उसी अंदाज़ में चुप भी हो गई। वह क्या बोले, क्या न बोले। अच्छा है, बड़ी हवेली में एक आदमी तो मिला जो उसे टकटकी लगाए, इतने प्यार से देख रहा है—वह भी ज़मीदार साहब खुद! उनकी आंखों में हलकी सी शरारत थी। रामकली के भाग कि पक्के पत्थर की इस हवेली में कोई उससे इतनी मीठी शरारत भी कर सकता है! यह कैसा विद्रोह और प्रतिशोध था वर्षों का! वह खुद टकटकी लगाकर देखने लगी। अब कहां है वह बूढ़ी खूसठ मालकिन? समझाए अपने ज़मीदार बेटे को! अब कहां है वह 'नकचढ़ैल' बहू? कर ले मिलान अपने रूप-जोवन का और संभाल ले अपने घर वाले को!

उन क्षणों की तहज़ीब में सैंकड़ों फासले सिमट गये या फिसल गये। पाप-पुण्य के सैंकड़ों विचार एक-दूसरे से टकराकर गड्मड् हो गये।

ज़मीदार साहब की आंखों में अजीब से रंग थे।

उन्होंने थरथराती आवाज़ में कहा, "तू रामकली है न, जीवणू की घरवाली?"

रामकली जाने कहां खोई थी। हांफते, कांपते बोली, "जी मैं ही हूं रामकली। मैं ही हूं।"

वह मन ही मन गुनने लगी कैसे पहचाना होगा उन्होंने? वे तो काम-काज के सिलसिले में महीनों शहर रहते हैं। गांव आते हैं कभी, तो लोगों से घिरे हुए। उन्होंने कब देखा मुझे? शायद देखा हो! शायद मेरी नाक से पहचाना हो! लेकिन सनाका खा गई। जीवणू कहां से टपक पड़ा बीच में!

ज़मीदार साहब ने उसे धीरे से पुकारा। उनकी आवाज़ घरघरा रही थी।

"आ इधर आ।"

रामकली अपनी जवानी से झिझकी। अपने मैले-कुचैले कपड़ों से झिझकी। अपनी औकात से झिझकी। न जाने किन-किन खयालों से झिझकी'''लेकिन ज़मीदार साहब ने खुद उसे अपनी ओर खींच लिया और उसी मखमली गद्दे पर बिठा दिया।

"शरमाती क्यों है? तेरा अपना घर है।"

फिर वे उसके गालों तक अपनी सांस ले गये और हल्के से उसके कान में कहा, "तू बहुत अच्छी है। तेरे काम से हम बहुत खुश हैं।"

उन्होंने अपने कांपते हाथों को उसके कंधों पर रख दिया और बड़े गौर से उसकी नाक और ठुड्डी को देखने लगे।

"तू बहुत खूबसूरत है!"

रामकली को आज वह सपना याद आया जो उस दिन दो पहर रात गये, उसे बरबस आ गया था।

वह बदहवास दौड़ती-भागती जब घर लौटी तो किवाड़ के सामने जैसे पैर जम गये। न एक कदम आगे, न एक कदम पीछे।

बंद किवाड़ के भीतर जीवणू की भारी भरकम आवाज़ सुनाई दे रही थी, "ऐ जमूरे, जो पूछूंगा, सच-सच बतलाएगा?"

[राजकीय महाविद्यालय, मंडी, हि० प्र०]
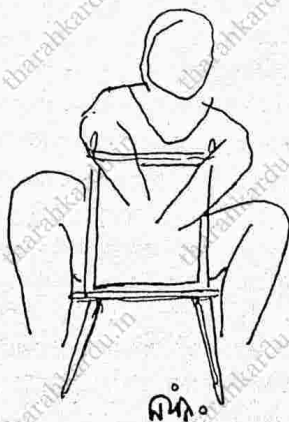
फालतू बात

☐ मालचन्द तिवाड़ी

देखिए, मैं ठहरा बूढ़ा आदमी। आज के चलन का कोई फड़कता हुआ किस्सा सुनाना भी चाहूं, तो मेरी विवशता है कि मैं सुना नहीं पाऊंगा। मुझे बूढ़ा हुए भी काफी वक्त बीत गया। कल रात ही मुझे पता चला कि हिन्दी के एक लेखक अठहत्तर वर्ष के हो गए हैं। दूरदर्शन पर अपने संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने बताया था कि उनका जन्म सन् 1910 में हुआ था। मैं भी इसी वर्ष में जन्मा हूं। लेखक महाशय के संस्मरणों में गहरे सामाजिक लगाव और कर्मठ साहित्यिक जीवन की अनेक झलकियां थीं। बताते हुए उनके हाव-भावों में जीवन से उत्पन्न संतोष और एक प्रकार के भरेपूरेपन का बोलबाला था। मैंने देखकर सोचा था कि सचमुच, जीवन को ऐसा ही होना चाहिए—कुछ नाम वाला, कुछ काम वाला। जिसे देखकर लगे कि साधारण जीवन कितना वेतुका होता है।

मैं तो साधारण ठहरा, ऐसी विराटताओं के साथ तुलता हूं तो इस उम्र में भी हीन भावनाएं फंफेड़ने लगती हैं। याद रखने और संस्मरणों में सुनाने लायक तो कुछ भी नहीं, मेरे पास! सिवाय अपने को धीमे-धीमे बूढ़ा होते देखने के क्या याद करूंगा! दस-बीस छोटे-मोटे हादसे, पचीस-पचास रटे-रटाये खुशी के मौके। समझना मुश्किल नहीं कि यही नौकरी, शादी, पुत्र-प्राप्ति, पदोन्नति, वचत, सामाजिक प्रतिष्ठा और इस चाबियों के गुच्छे में खोये हुए तालों की कुछ और बेकार-सी चाबियां। मुझे पक्का बुढ़ापा आ गया लगता है। देखिए, कैसी-कैसी तुलनाएं सूझ रही हैं···अपनी जिन्दगी के वर्षों को मैं खोए हुए तालों की चाबियों का गुच्छा कह रहा हूं और लगता है, इसी गुच्छे को उम्र के छोर पर बैठा झुनझुने की तरह बजाकर दिल बहलाना चाहता हूं। क्या ऐसा मुमकिन है? अगर उन 78 वर्षीय स्वनामधन्य लेखक महाशय के लिए ये चाबियां इतने मतलब की हैं, तो फिर मेरे लिए क्यूं नहीं? मैंने अपने शुरू-शुरू के दिनों को छोड़, आजीवन उपदेश दिए हैं याने अध्यापकी की है और अब मेरे अपने काम आए, ऐसा एक भी उपदेश जीवन ने मेरी सेवाओं के वदले पलटकर मेरे पल्ले नहीं बांधा? यह तो बड़ी शर्म की बात है। मगर किसके लिए, मेरे या जीवन के लिए?

तो मैं क्या सुना रहा था, यह भी बिसर गया हूं। लेखक महाशय की याददाश्त बड़ी तेज थी। गांधीजी के साथ बिताये अपने क्षणों का वे ऐसा बारीक ब्योरा दे रहे थे कि सुनते हुए मुझे गांधीजी के नख-शिख तक दृष्टिगोचर होने लगे। क्यों न होते, आखिर वे लेखक कलाकार थे। लेखक महाशय का सब कुछ प्रखर था। देखिए, मुझे लगता है कि मैं यह सब कहते हुए लेखक महाशय से उनके जीवन की तृप्ति उधार ले रहा हूं। पर इतना तो मैं भी जानता हूं कि हरेक

जीवन का काम अपनी-अपनी तृप्ति से ही चलता है, तृप्ति की उधारी से नहीं चलता। मुझे भी अपने लिए, या आपको सुनाने के लिए, अपनी ही कोई तृप्ति जुटानी पड़ेगी। चलिए, देखता हूं अपना चाबियों का गुच्छा। कहीं कुछ तो मिलेगा, क्योंकि आखिर कोई भी जीवन, कैसा भी जीवन मेरे ख़याल में, इतना कंगाल तो नहीं होता होगा।

लो, याद आई एक बात। अरे, यह तो वही बात है। आज भी वही बात? जब-जब मुझे सुनाने का मौका लगा है, याद आता है कि मुझे सिर्फ यही बात याद आती है। अक्ल तो कहती है, यह बड़ी फालतू-सी बात है; इसमें कोई सीख नहीं, प्रेरणा नहीं, गहरा अनुभव नहीं और नयी पीढ़ी को इससे वैसी ऊर्जा मिले, जैसी दुनिया भर की बोध कथाओं और महापुरुषों के जीवन प्रसंगों से मिलती है, इसका तो सवाल ही पैदा नहीं होता। लेकिन लाचारी है कि मुझे तो अपने समूचे जीवन में से एक यही घटना बार-बार सुनाने के लिए सूझती है। कोई सुनने वाला मिले, न मिले, मुझे तो इसे सुनाने की ललक हमेशा ही रहती है। क्या मुझ गूंगे का गुड़ है यह किस्सा कि जब भी मेरा अंतस फीका-फीका होता है और भीतर सूखा-सूखा लगता है, मैं अपने को टटोलने लगता हूं। तब यही बात भीतर घुलने लगती है मिसरी की डली-सी। आप मुझ बुढ़ऊ पर हंसेंगे, यह अंदेशा मुझे है, पर मैं क्या करूं? इससे बढ़कर और क्या है मेरे पास?

हां, तो उस वक्त मेरी उम्र होगी कोई तीस-बत्तीस। शादीशुदा ही नहीं, बाल-बच्चेदार भी था। उन दिनों सरकारी नौकरी बड़ी रुतबे की चीज़ थी। बिरादरी के लोगों को हाकिम और अहलकार का भेद भी नहीं मालूम था। इसलिए मैं अहलकार होकर भी हर घड़ी हाकिम बना घूमता था। बन-ठन के रहता था और गुंजायश मिलते ही बड़ी डींगें हांका करता था। जुबान मेरी खासी लच्छेदार थी। लोग कान देकर सुनते थे, सिर्फ इसलिए ही नहीं कि मैं राज का आदमी था, इसलिए भी कि मेरी बातों में बुद्धिमानी झलकती थी और सबसे बड़ी बात कि वे रसीली होती थीं। अब याद करना भी अटपटा लग रहा है कि उन दिनों कैसा तो कांइयां किस्म का झूठा बड़प्पन मुझ पर सवार रहता था। और भी सच्ची बात यह है कि मैं तब अव्वल दर्जे का आशिक-मिजाज था। हालांकि आजकल जैसा खुलापन मेरी जवानी के नसीब में न हुआ, फिर भी, औरतों की संगत में मेरी जुबान जलेबी हो जाया करती थी। आठों पहर उमंग में रखने वाले ख़याल जहन में तैरा करते थे। थोड़े में कहें तो यह कि मेरी जवानी इस लाजवाब वहम में बीत रही थी कि हो न हो, दुनियां की सारी औरतों को मेरी घरवाली के भाग्य से ईर्ष्या है।

ऐसी ही हवाओं पर सवार मैं एक दिन रेल यात्रा कर रहा था। यात्रा क्या, छोटी-सी दूरी थी जो तय कर रहा था। रेल हमारे इलाके में नयी-नयी ही पहुंची थी, सो असल कारण तो रेलकी सवारी का कौतूहल ही था। स्टेशन गिने-चुने थे। लेकिन जितने थे उन पर गाड़ी के ठहरने का कोई हिसाब नहीं था। घंटों ही खड़ी रह जाती। यात्री इंजन की आवाजों से बहलते डिब्बों में बैठे रहते। चढ़ने-उतरने के लिए रेलवे द्वारा जारी हिदायतों से वे इतने आशंकित रहते कि चढ़ने के बाद अपने ठिकाने पहुंचकर भी उतरते उन्हें डर लगा रहता। मैं तो जोशीला था। जहां गाड़ी खड़ी होती, उतर जाता और एक-एक डिब्बे में झांकता फिरता। उस दिन भी यही किया। मैंने एक डिब्बे में पाया, लम्बी बेंचों पर फकत पांच सवारियां बैठी थीं। उन पांचों में जहां मेरी आंखें जुड़ा गईं, वह तो उन दिनों के लिहाज मानो साक्षात् अचंभा ही मनुष्य-देह धरे

बैठा था। मैं तपाक से डिब्बे में चढ़ गया।

वह खिड़की के ऐन पास थी। उसकी पोशाक अद्भुत-सी थी, हमारे इलाके के लिए परदेशी, लेकिन बेहद कीमती। उसने चटख-चमकीले खूब घुटे पीले रंग का ढीला चोला-सा पहन रखा था और वैसी ही पजामी। उसका अपना रंग भी दूध में मीठा रंग मिलाकर बनाई हुई खीर जैसा था। उसकी आंखें बड़ी-बड़ी थीं जो झपझपाने पर खुमार-सा पैदा करती थीं। उसके सिर पर झीना दुपट्टा था जिसमें से उसके घने काले और घुंघराले बाल झांक रहे थे। सब मिलाकर मेरे सामने कोई परी-सी बैठी थी। जाने किस ख्याल में डूबकर वह लगातार खिड़की के पार झांक रही थी। मैं ठीक उसके सामने आन बैठा था। बाकी सवारियां, जिन पर मैंने देर बाद ध्यान दिया, लगता था उसकी आंच से बचने के लिए उससे अलग हटकर बैठी थीं। इन सवारियों में दो सिपाही थे, जिनके बीचोंबीच रस्सी से हाथ बंधाए एक मनहूस सूरत का कैदी बैठा था। इन तीनों से आगे एक नौजवान संन्यासी बैठा था, जो भगवे बाने में बेहद मासूम और पवित्र लग रहा था। लेकिन वह सबसे अनजान कुम्हलाये फूल-सी अलग-थलग लग रही थी। उसकी उम्र किसी भेद-सी गूढ़ लग रही थी, लेकिन जैसे कि कई ब्याही औरतों तक के लिए होता है, उसे भी चिर-कुंआरी कहने को जी चाहता था।

अचानक मेरा दिल बोला, अगर यह मुसकुरा दे तो कैसी लगेगी? मुझे अपने आप पर बड़ा जोम हुआ करता था; सोचता था, किसी भी औरत को हंसाना मेरे लिए क्या मुश्किल काम है! बस मेरी जुबान के चल पड़ने की देर है। मैं इसी के लिए रास्ता खोजने लगा।

मैंने बारी-बारी सवारियों के मुंह ताके। लगता था, सबने मुंह सिल रखे थे। नौजवान संन्यासी ध्यानस्थ था। सिपाही कैदी के बंधे हाथों पर आंखें गड़ाए थे। कैदी ऊंघ रहा था। गाड़ी चल पड़ी थी। हलके हिचकोलों के साथ छुकछुक सुनाई दे रही थी। बीच-बीच में घुटी हुई चीख-सी सीटी सुन जाती थी। मैं रह-रहकर उसे कनखियों से देख लेता था और मेरी जुबान पर खुजली दौड़कर रह जाती थी। कहां से शुरू करूं? मुझे लगने लगा कि आज मेरा हसीन वहम मेरा साथ छोड़ देगा। मेरे लिए यह असहनीय था। कितनी बड़ी चुनौती मेरे सामने थी कि इस कुम्हलाये फूल को खिला देना है या खुद कुम्हला जाना है।

देखिए, मुझ बुढ़ऊ की भी कभी कैसी चंचल मति थी। आप सुनने वालों में कितने तो मेरे नाती-पोतों की अवस्था में होंगे। और जिस रूप-रंग का मैंने बयान किया है, वह भी कितनी पीढ़ियों और फैशनों में छनकर और कितना निखर गया होगा! पर भला, रूप तो रूप है, उसकी विरासत तो सिर्फ सुंदरता ही होती है। हजार साल पहले के पेड़, झरने, नदियां, बादल, फूल और चांदनी क्या कुछ बदल गये हैं? फिर क्या बदला है इस दुनिया में? देखिए, मुझ पर भी फलसफा झाड़ने का भूत सवार हो रहा है और मैं कह रहा हूं कि दुनिया में सब कुछ सुंदर की प्रतिष्ठा के लिए ही होना चाहिए, यहां तक कि हत्याएं भी। मैं तो ऐसा ही निजाम चाहता हूं जिसमें सुंदर की हिफाजत के लिए जान देने और जान लेने में कोई फर्क नहीं किया जाता हो। सुंदर की असल कद्रो-कीमत से वाकिफ होकर चाहे कोई लेनिन बने, चाहे रविन्द्रनाथ, मुझे कोई फर्क नहीं लगता। और फिर मेरा तो बना ही क्या?

हां, तो मैं बड़े संकट में फंस गया। एक हाजत-सा, दबाव बढ़ता जा रहा था। मैंने बड़ी उम्मीद से फिर सवारियों की तरफ देखा। इस बार संन्यासी जाग्रत था। उसकी बटन सरीखी गोल आंखें चमक रही थीं। मैंने फुर्ती से सोचा, मौका न जाए। जो सूझा, मैं बोल पड़ा

"साधु महाराज, एक बात बताएंगे ?"

साधु ने हामल भरी। मेरा हौसला बढ़ा, मैंने पूछा, "दुनिया में सबसे सुंदर क्या है?"

"वैराग्य-जनित शांति !" नौजवान संन्यासी ने शांत भाव से कहकर मुसकुरा दिया।

"आपके विचार से क्या यह मेरे सवाल का अंतिम उत्तर है ?" अब मैंने खुलकर बोलने की जगह बनाई और बड़ी हसरत से उस पीत-परी की तरफ देखा। मेरा मन अह्लादित हो गया, यह पाकर कि वह भी मेरी तरफ देख रही थी। उसकी डैनों जैसी बड़ी-बड़ी पलकें धीमे-धीमे उठ-गिर रही थीं।

उधर संन्यासी कुछ अचकचाये से लगे। उनकी उम्र होगी कोई बीस-बाईस···ऐसे टेढ़े सवालों के जवाब का शायद उनके गुरू ने उन्हें अभ्यास शुरू नहीं करवाया था। उनको अचकचाता पाकर मैं गर्वदीप्त हो उठा और शेष यात्रियों की तरफ देखकर मुस्कुराने लगा। दोनों सिपाही मेरे सामने हंस पड़े।

"महाराज, मेरी जिज्ञासा ?" मैंने जैसे संन्यासी को नयी ललकार दी।

"इस संसार में कुछ भी अंतिम नहीं है—न प्रश्न, न उत्तर, न जय, न पराजय, न जीवन, न मृत्यु···बस, नैरन्तर्य ही अंतिम है जिसकी परिधि में भ्रमण करते हुए हम अपने-अपने अनुभव में सत्य के लघु-साक्षात् पाते रहते हैं। मेरे कथन को भी ऐसा ही समझें। संन्यासी धीमे-धीमे बोलकर फिर निरुद्वेग ढंग से मुसकुराने लगे। आह ! कैसी उजली और सच्ची मुसकान होगी वह, लेकिन उस घड़ी तो मुझे दूसरी ही मुसकान की ज़रूरत थी।

"इसका अर्थ हुआ कि सत्य धारणाबद्ध है, याने उसकी प्राप्ति का संतोष ही बड़ा है, यथार्थ प्राप्ति तो अकल्पनीय है।" मैं बोला।

"अवश्य अकल्पनीय है, क्योंकि कदाचित् वह मानवीय अनुभव की सीमा से आगे के किसी असीम क्षेत्र में ही अवस्थित हो, जिसका आनुभाविक वर्णन ही संभव न हो···।" संन्यासी ने बताया।

"फिर तो आदमी-आदमी के अनुभव-भेद से सत्य के इन लघु-साक्षातों में भी भेद होते होंगे, और जहां तक इनके सत्य का अंश होने का सवाल है, इनमें कोई वास्तविक भेद भी नहीं होता होगा। इस हिसाब से तो आप साधु महाराज में और इन कैदी महाराज में, अपनी-अपनी धारणाओं के अलावा कोई फर्क नहीं होना चाहिए।"

देखिए, सोचने की बात है कि उस वक्त मैं यह क्या बे सिर-पैर की हांक गया और कैसे विजेता-भाव से अपनी रीढ़ तानकर बैठ गया।

संन्यासी थोड़ी देर मौन रहे, फिर बोले, "क्षमा करें, इससे अधिक मीमांसा की मुझमें योग्यता नहीं है। आप साधु-वेश में न होकर भी मुझसे अधिक विदग्ध और वार्ता-पारंगत हैं। मैं तो छुद्र अन्वेषी मात्र हूं और आप पंडितजन···मुझसे हुए अविनय को अवश्य क्षमा करें।"

इतना कहकर संन्यासी ने फिर आंखें मूंद लीं।

इधर सिपाही और कैदी विस्फारित आंखों से मुझे घूरने लगे। निश्चय ही उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ा होगा, लेकिन एक संन्यासी के साथ कैदी का एक कर देने, संन्यासी के सहजभाव से मुझसे पराजय स्वीकार करने आदि ने उन पर मेरी झूठी विद्वता का रौब गालिब कर दिया था। यही बात थी कि वे मुझसे सहम-से गये। मैंने बड़े आत्म विश्वास से एक सिपाही के कंधे पर हाथ रखा और कहा, "सिपाही जी, दुनिया में सबसे सुंदर है सिर्फ सुंदरता···इससे आंखें मूंदने

से बड़ा पाखण्ड कुछ नहीं। मुझे तो सुंदर वस्तुएं देखकर अफसोस होता है कि इन्हें देखने के लिए कंजूस ऊपर वाले ने दो ही आंखें क्यों लगाईं, दस-बीस-पचास या रोमछिद्रों जितनी असंख्य क्यों नहीं ? है न ठीक बात !"

मेरी लच्छेदार लहजे में कही गई बात पर कैदी तक हंस पड़ा। उसकी मनहूस सूरत पर हंसी ऐसी लगी, जैसे सूखे बांस पर चलता रेशम का कीड़ा हो। सिपाही मेरे मुरीद बन गये। फिर मैंने ऐसे किस्से सुनाये कि एक-दो बार तो ध्यानस्थ संन्यासी तक का ध्यान डोल गया और उस शांत चेहरे पर भी बरबस हंसी छलक पड़ी।

लेकिन इनमें मेरा अभी रूट कोई नहीं था। मैं अपना समूचा वाक्चातुर्य आजमा चुका था, पर वह परी नहीं मुसकुराई थी। अलबत्ता दो-तीन बार उसने मुझे बोलते हुए निहारा ज़रूर था। मुझे लगा, इसकी हंसी इसकी आंतों में फंसी हुई है, जब तक कहकहा नहीं लगायेगी, वह इसके होठों तक नहीं आयेगी। फिर तो मेरा सारा आपा दांव पर लग गया, लेकिन वह पाषाण-प्रतिमा अडिग थी। हे भगवान, अब मैं क्या करूं ?

तो देखा आपने, है न एक फालतू बात ! वह नहीं मुसकुराई। स्टेशन आ गया। मेरी पिण्डलियां कांपने लगीं। इतनी बड़ी पराजय लेकर मुझसे कैसे उतरा जाएगा ! ज़्यादा दुनियादार मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे, न सही, लेकिन मेरी हालत उस वक्त किसी भिखारी से भी गई-गुज़री हो गयी थी। जैसे ही पहियों के साथ ब्रेकों की रगड़ से चिंघाड़ उभरी, मेरा मन हुआ कि उसके कदमों में गिर पड़ूं और गिड़गिड़ाऊं, "हे देवि, कृपा करके मुसकुरा दो···मैं बाल-बच्चों वाला आदमी हूं, तुम नहीं मुसकुराईं तो इसी गाड़ी के आगे आकर खुदकुशी कर लूंगा···।"

गाड़ी रुकी। न मैं गिरा, न गिड़गिड़ाया। अपने को संभालकर उठा और उतरने को चल पड़ा। मैंने उसकी तरफ देखा ही नहीं। मैंने सोचा, ज़रूर यह रबड़ की बनी है। उसको यूं ही तरह-तरह से कोसकर मैं जैसे ही आगे बढ़ा, चमत्कार हो गया। पीछे से किसी ने मेरे कुर्ते का छोर पकड़कर खींचा। मेरे पांव ठिठके। मैंने लपककर पीछे देखा, वही थी। अपार याचना थी उसकी आंखों में···मेरे भीतर जैसे घंटा-ध्वनि हुई। आखिरकार वह मेरे सामने मुसकुरा रही थी और उसके होठों में मुझसे बोलने के लिए मुलमुलाहट हो रही थी, लेकिन बोल अटके हुए थे।

"क्या बात है ?" मैंने अपने कांइयां बड़प्पन के लबादे में से पूछा।

जवाब में उसने अपने हाथों से शक्लें बनाकर मुझे जाने क्या कहना चाहा कि मैं झूठ-मूठ का झुंझलाकर बोला, "मुंह से क्यों नहीं कहती ?"

वह रुंआसी दीखने लगी। उसने पीछे मुड़कर अपने सामान में से कागज-कलम निकाले और बड़ी फुर्ती से कुछ लिखने लगी। मैं भौंचक देखता रहा। उसने वह कागज़ मुझे थमा दिया। गनीमत थी कि अपनी नौकरी में मैंने काम-चलाऊ अंग्रेजी सीख ली थी, उस कागज़ में किसी अंग्रेज की-सी अंग्रेजी में लिखा था, "मैं जन्म से गूंगी और बहरी हूं, कुछ कह-सुन नहीं सकती। मैं अभी ढाका से आ रही हूं। अगर इस स्टेशन का नाम 'फलां' है, तो यहां से थोड़ी दूर मेरा पुश्तैनी गांव है। इसी गांव से बरसों पहले मेरे पुरखे व्यापार करने के लिए ढाका चले गये थे। अब मैं अपने परिवार में अकेली बच गई हूं क्योंकि कुछ दिन पहले एक डाके में मेरे सब घरवालों की जानें चली गईं। मैं अपने किसी रिश्तेदार को ढूंढ़ने यहां आई हूं, जो मेरे साथ चल

सके। ढाका में हमारा मलमल का कारोबार है। आपसे हो सके तो मेरी थोड़ी मदद कर दीजिए, मुझे मेरे गांव का रास्ता बतला दीजिए। मैं आपकी आभारी रहूंगी। मेरे गांव का पता नीचे लिखा है।"

मुझे काटो, तो खून नहीं। मैं ऊपर से नीचे तक पत्ते की तरह थर-थर कांप रहा था। कितनी ही देर बाद मुझे होश-सा आया। मैंने गहन करुणा में भीगी अपनी हथेली उसने आगे पसारी। उसने निस्संकोच अपना हाथ मेरी हथेली पर रख दिया। वह मेरे साथ गाड़ी से उतर गई।

बरसों बीत गये किस्सा खत्म हुए, लेकिन मेरे जीते क्या यह किस्सा मेरा पीछा छोड़ देगा? मैंने शायद अपने जीवन में एक भी काम समझदारी और सूझबूझ से नहीं किया, और इस बात के अफसोस की बजाय मुझे इसमें मजा ही ज्यादा आया है। समझदारों का मखौल उड़ाने से बड़ी कोई समझदारी मुझे कभी रास ही नहीं आई, लेकिन उस दिन की नासमझी का गुनाह मेरे मन पर आज भी कुण्डली मारे बैठा है। पता नहीं किस शेखी में आकर मैंने ऐसा किया; ऊंट-गाड़े में उसके साथ बैठकर उसे गांव तक छोड़ने जाने की बजाय मैंने उसे अकेला भेज दिया था। गाड़ा चला, तो वह निरीह भाव और कृतज्ञता लिए मेरे सामने देखकर मुसकुराई थी। मैंने भी विजेता-भाव से मुसकुरा दिया और आकर अपने धंधे लगा। तब ऐसी छोटी-छोटी विजयें पाना मेरे अहंकार की खुराक थी।

काश बात इतनी-सी होती! मैं सिर्फ उसकी वह निरीह मुसकान वाली तसवीर ही याद रख पाता। अपने अटपटे स्वाभाव से खदेड़ा जाकर दो दिन बाद उससे मिलने उस गांव न जाता। पर मैं गया था। पता लगा, इस परदेशी हुलिये की कोई औरत कभी गांव नहीं पहुंची। गाड़े वाला क्या उसे किसी दूसरे गांव छोड़ गया? आशंकित होकर मैंने उसे एक-एक गांव में ढूंढ़ा। वह इलाके के सैकड़ों गांवों में से कहीं नहीं पहुंची थी।

तो बात यह थी। फालतू-सी ही है और बूढ़े आदमी के मुंह से तो और भी फालतू। लेकिन जाने क्यों, यही एक बात है जो मुझे अक्सर अपने समूचे जीवन की पूंजी-सी जान पड़ती है और तब लगता है कि मेरी बाकी सारी उम्र उस घुंघराले बालों वाली पीत-परी, जन्म से गूंगी-बहरी लड़की को ढूंढ़ने में ही बीती है—और हर बात फालतू थी।

[कालूवास श्री डूंगरगढ़ (चुरू) राजस्थान]

अपंग देश की राजकुमारी

□ डा० सुशील कुमार फुल्ल

बिजली की तारों में लटका हुआ चमगादड़···एक ही झटके में काला पड़ता खून···आर या पार···बीच मंझधार में फंसे रहना कितना कष्टदायक है···पद्मरेखा ने तारों में लटके चमगादड़ को देखा और एक आहत हंसी उसके चेहरे पर बिखर गई···उसकी हंसी में ईर्ष्या का भाव···क्षत-विक्षत पक्षी की विवशता थी···वह फुर्र करके उड़ जाना चाहती थी···ताकि फिर अनन्त आकाश में निरन्तर उड़ान भर सके···और लौटकर मृत्युलोक में न आए।

रिंकी का ब्याह था और मौसी पद्मरेखा आई हुई थी। बुझी हुई आंखें और समय के थपेड़ों से थुलथुल हो गया शरीर···फिर भी जिजीविषा की एक चिंगारी थी···आत्मीयों से मिलने की एक ललक बाकी थी···इसी बहाने वह अपने ककून में से बाहर निकल आती, कभी-कभार।

औरतों ने नाचना शुरू किया तो मौसी की एड़ी में भी हरकत हुई और वह धमाके से उठ खड़ी हुई। जल्दी ही उसका सांस फूलने लगा और पैर लड़खड़ाने लगे। मैंने मौसी को सहारा दिया तथा बिस्तर तक ले गया। पूछा—"मौसी डियर, जब शरीर ही साथ नहीं देता तो आप नाचने क्यों लगी।"

"यह मुई जिन्दगी ही ऐसी है। उमर भर यही सुनती रही—पद्मरेखा ऐसा नहीं करना, वैसा नहीं करना। यह ठीक नहीं, वह ठीक नहीं। और अब शारीरिक प्रतिबन्धों के घेरे से बाहर निकली भी तो इस नामुराद बीमारी ने धर दबोचा।" कहकर मौसी रोने लगी।

कई बार सोचता हूं कि किसी न किसी प्रकार मौसी की सहायता करूं। और कह दूं कि तुम्हें चिन्ता की जरूरत नहीं···दो वक्त की रोटी की ही तो बात है···सारी उमर मौसी अपनी रोटी में से गो-ग्रास निकालती रही···दरवेशों के लिए रोटी के टुकड़े फैंकती रही···कीड़ियों के भोण के लिए तिल-चावल डालती रही···और आज उसे तिल-चावल डालने वाला कोई नहीं···। वाह री मौसी···मैंने बहुत बार सोचा है कि मौसी को अपने पास ही रखूं लेकिन जब भी मैं उसे लाता हूं तो कोई न कोई समस्या आ खड़ी होती है···कभी मेरे घर वाले ही प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। ···मौन-संकेतों से कहते हैं, "तुम्हीं क्यों फरिश्ता बनना चाहते हो···उसके हैं तो सही।" कभी उसे ले भी आता हूं तो उसका देवर आ खड़ा होता है और गिड़गिड़ाने लगता है, "भाभी, तुम चलो तो सही। तुम्हारा घर-बार, बाग-बगीचे सब कुछ तो है। मैं लक्ष्मण न सही लेकिन इन्सान तो हूं ही। मेरे बच्चों को आप ही ने तो पाला है। देखो न पवन अब एस० डी० ओ० लग गया है। और तुम गांव में न भी रहना चाहो तो उसी के पास चली

जाना। उसका भी मन बहल जाएगा और तुम्हारा भी।"

ऐसी चिकनी-चुपड़ी बातों से मौसी गद्‌गद् हो जाती और तुरन्त चल देती अपने देवर के साथ। लेकिन ज्यों ही वह गांव पहुंचती तो उसके सन्देश आने लगते—"मुझे आकर ले जाओ। मैं क्षण भर भी यहां नहीं रहना चाहती। ये लोग दरिन्दे हैं। मुझे बंधा-बधाया भोजन मिलता है। कब तक कुत्तों की तरह लार टपकाती रहूं। मैं रसोई से कुछ भी तो अपनी मर्ज़ी से नहीं ले सकती। यह भी कोई ज़िन्दगी है!"

हम सब पर मातम छा जाता। नाना-नानी परेशान हो जाते। मेरी मां दुखी हो जाती तथा मौसी की खुशियों की कामना करते हुए कई-कई दिन के लिए उपवास करतीं। जब भी मौसी की चिट्ठी आती, कोई न कोई दुखद घटना की सूचक होती और सब मन मसोस कर रह जाते। लेकिन नाना पता नहीं किस मिट्टी के बने थे···कौन से संस्कार उनमें पले थे। वे सिर्फ इतना ही कहते, "उसका ब्याह करना मेरा कर्तव्य था। अब उसके भाग्य में सुख ही न हो, तो मैं क्या करूं!"

ऐसा कहकर वे अपनी आंखें पोंछने लगते। नानी कहती, "मैंने तो तभी कहा था कि दोबारा ब्याह कर दो, लेकिन तुम औरतों से भी ज्यादा पुरातनपंथी निकले। सारी उम्र पद्‌मरेखा के लिए दुआएं मांगते हुए शिवालय में गंवा दी···लेकिन पद्‌मरेखा की स्थिति जस की तस रही। दो-दो बेटे वकील हैं—गुल्ड-मेडल लिए हुए। लेकिन उस मासूम को उसका हक नहीं दिला सकते। उसका घर वाला क्या मर गया···मानों सारी दुनिया मर गई हो।"

नानी का विद्रोही स्वर घर में गूंजता रहता, परन्तु कोई सही कदम उठाने के लिए भी तैयार नहीं था। व्यर्थ में कौन कचहरियों में उसके केस की पैरवी करे···और उससे भाईयों को क्या मिलना था···। और फिर रिश्तेदार क्या सोचेंगे, इसी अहसास ने पढ़े-लिखे भाईयों को पंगु बना दिया था।

मौसी मायके लौट आई थी। अट्टहास करती हुई बोली, "मैंने सारा झगड़ा खत्म कर दिया। मैंने सब कागज़ों पर हस्ताक्षर कर दिये। हर रोज़ मेरे पीछे घूमता रहता था। मैं तो जन्म-जली हूं ही। मैंने अपने पति का मुंह भी ठीक से नहीं देखा था और अंधकार छा गया।··· फिर मुझे दुनिया क्यों मुंह लगाए। यों ही पच्चीस-तीस साल से पीछे पड़ा था।"

सब भौंचक्क रह गये थे।

"पद्‌मरेखा! तूने ठीक नहीं किया।" वकील भाई ने कहा।

"ठीक क्या है···और ग़लत क्या है···यह मेरे लिए उसी दिन गड्डमड्ड हो गया··· जिस दिन विष्णु परलोकवासी हो गया···जो मेरे मन ने कहा···मैंने वही किया।"

"तुम भूखी मरोगी।"

"मैं जीना ही कब चाहती हूं···लेकिन मौत ही नहीं आती।" वह कहीं खो गई थी। बोली, "वह नहीं रहा···मैं भी नहीं रही···चलती-फिरती लाश हूं।"

"तुम मरे हुए को तो चैन से रहने दो।"

"भय्या! यह तुम कहते हो, जिसने अपनी बहन को सैंकड़ों बार मरते देखा है···ज़िन्दगी में ठोकरें खाते, गेंद की भांति लुढ़कती हुई इधर से उधर और उधर से इधर। लुढ़कते रहने से मर जाना कहीं बेहतर है।···लेकिन भय्या···तुम पुष्प हो···तुम किसी की वेदना क्या जानो···। नर के बिना नारी की कल्पना···तुम कर ही नहीं सकते। मरना···जीना, जीना और मरना

···बस···ज़िन्दगी का मवाद···सड़ांद भरता हुआ···तुम अपनी नाक पर रूमाल रख लो भय्या। समझ लो मैं विष्णु के साथ ही स्वाहा हो गई थी।"

गोल्ड-मेडेलिस्ट वकील चुप हो गया था। पद्मरेखा के देवर ने सब कागजों पर हस्ताक्षर करवा लिए थे। सारी ज़मीन-जायदाद अपने नाम लिखवा ली थी···। विष्णु की विधवा से उसने क्या लेना-देना था।

"मौसी तुम भटकती ही रहती हो। कहीं एक जगह टिककर क्यों नहीं रहती।"

"मेरी तो ज़िन्दगी ही भटकन है। दूल्हे से मिल भी न पाई और कल्पना पहले ही भुर-भुरा गई। इसे तुम क्या कहोगे।"

"हूं, मौसी। मैं होता न नाना की जगह तो तुम्हारी दूसरी शादी कर देता।"

"होने और न होने की तो सारी बात है, कमलेश। वैसे इतना आसान नहीं था यह सब। शायद तुम्हारे नाना ने भी ऐसा सोचा होगा परन्तु उस समय के समाज में यह संभव नहीं था। और फिर मेरे भाग्य में सुख ही होता तो विष्णु मरता ही क्यों!"

"कुछ अजीब ही पहेली है।"

"पहेली ही तो सब संसार है, और औरत होना अपने आप में पहेली है।" थोड़ा रुककर मौसी बोली, "कमलेश! जब मैं विधवा हुई तो परिस्थितियां अलग थीं···औरत बोल नहीं सकती थी। वह माटी की गुड़िया थी···लेकिन फिर मुझे लगता है कि आज भी स्थिति जस की तस है···। आज हम भोग कर भी खामोश हैं···। कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं। नर में जो सदियों पुराना पाषाण है···वह कभी नहीं पिघलेगा। आज लड़कियां दरअसल लकड़ियां हो गई हैं··· धू-धू करके जलती-सुलगती। तुम्हारे नाना ने मुझे उन दिनों भी स्कूल भेजा था।"

मेरे पक्ष में कोई तर्क ही न उभरता। मौसी की एक-एक बात अनुभव से उपजी थी। अभी घूंघट उठा भी न था कि पति की मृत्यु···। पद्मरेखा पूछती रही थी, "क्या मेरे आने से विष्णु की मृत्यु हो गई? कैसे और क्यों?" लेकिन किसी ने नहीं बताया था कि वैसा क्यों हुआ। तेरह-चौदह साल की पद्मरेखा···की मांग का सिंदूर पोंछ डाला गया था···। उसने अभी पूरे गहने पहने भी नहीं थे कि सास ने झपट कर उतार लिए थे।

वह गेंद-सी लुढ़कती रही···कभी भाइयों के पास···कभी सास के पास···कभी भानजों-भतीजों के साथ···। लेकिन पहाड़-सी ज़िन्दगी·· बोझ बन गई थी। मौसी में कभी-कभार बचपन छलक उठता तो वह किलकारियां मारने लगती और बहुत अच्छी लगती।

मौसी के जीवन में एकाएक बहार आ गई थी। उन्होंने उर्मिला को गोद ले लिया था···। देवर ने तो भृकुटी तानी थी, "कहां से उठा लाई हो उर्मिला को। क्या पहले ही बच्चे कम हैं!"

"जो ले लिया सो ले लिया यह भी अब घर का ही बच्चा है।"

मौसी ने उर्मिला के विवाह के लिए सामान इकट्ठा करना शुरू कर दिया था··। आभूषण तो उसके पास थे ही। देवर कहता, "भाभी इतनी क्या जल्दी है। अभी तो वह छोटी है।"

"हूं! छोटी कहां। चौदह की तो हो चली। मेरी तो तेरह साल की उमर में शादी हो गई थी।"

"यह पुराने दिनों की बातें हैं।"

"होंगी, लेकिन सपने लेना बुरा नहीं।"

देवर ने अपनी भाभी को कहा था, "सपनें लेना तो ठीक है लेकिन हर कार्य सही समय पर ही ठीक होता है।"

मौसी को धक्का लगा था···। उसके देवर के तेवर ठीक नहीं थे। वह कुछ संशयात्मक ढंग से बात कर रहा था। मौसी और भी चौकस हो गई थी।

लेकिन मौसी की खुशियां बहुत देर टिकी न रहीं। यह संयोग ही था कि एक रात उर्मिला अपनी मां के साथ सोई और देर रात गये तक बतियाती रही। मां-बेटी अपने दुख-सुख···आज और कल की बातें करती रहीं। उर्मिला ने कहा था, "मां मैं तुम्हें नहीं छोड़ूंगी।"

"विवाह के बाद भी नहीं?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"मैं अपनी प्यारी-सी मां को भी साथ ही रखूंगी। उसे अकेला नहीं छोड़ सकती।"

"अच्छा!" मौसी खुश हो गई थी। सपने में उसने देखा, "उर्मिला चमगादड़ हो गई थी···ऊपर तारों में लटकी हुई नन्हीं-सी बालिका—कीड़ियों का भौड़·· और तिल-चावली डालती पद्मरेखा···। उसके पांव के नीचे एक कीड़ी आ गई थी···। वह सहम गई थी।

शायद यह उर्मिला का घर नहीं था। वह अपने घर चली गई थी। मौसी अकसर कहती थी, "लड़कियां अपने घर में ही अच्छी लगतीं हैं। और मौसी को खुद लगता कि उसका अपना तो कोई घर था ही नहीं···न ससुराल में जगह और न मायके में। चमगादड़-सी हवा में लटकी वह।

रिंकी का विवाह सम्पन्न हो गया था।

तभी कमरे में भय्या ने आकर कहा, "मौसी खुश तो हो?"

"हां बेटा। बेटी अपने घर चली गई···बहुत अच्छा हुआ···सुखी रहे।"

"मौसी, तुम कहां जाना चाहोगी?" भाभी ने पूछा।

"जहां कहो, वहां चली जाती हूं···रिंकी की मां···वो पुरानी कहानियां मुझे आज भी याद हैं। मां सुनाया करती थी—कन्या को बक्से में बन्द करके पानी में बहा दिया जाता था। जहां उसका भाग्य ले जाए। कोई पकड़ लेगा और पालन-पोषण करेगा। लेकिन कान्ता मैं तो लड़की भी नहीं हूं। एक अपाहिज···एक कोढ़ी···मुझे भी बन्द बक्से में बहा आओ···। ऐसी दिशा में जहां कोई इसे पकड़े नहीं। पकड़ने से उसे दुख होगा···क्योंकि इसमें राजकुमारी तो होगी नहीं···" मौसी के आंसू झरने लगे।

"मौसी,···तुम राजकुमारी तो हो ही। हां, अपंग देश की राजकुमारी···क्या करे।" मैं कातर स्वर में कहता हूं।

हवा में लटका हुआ चमगादड़···तारों में फंसा हुआ···लहूलुहान क्षत-विक्षत पक्षी···कीड़ियों के भौण पर तिल-चावली डालती एक नन्हीं-मुन्नी···पद्मरेखा को लगा···वह चमगादड़ हो गई थी···या विवश कीड़ियों के भौण की एक कीड़ी···अपंग देश की राजकुमारी।

[कृषि विश्वविद्यालय, पालमपुर-176062]

जब मैंने जाति चुराई

☐ बाबूराव बागुल

मुझ पर जाति चुराने की जो नौबत आयी थी, उसकी याद आते ही, मन अग्निकुण्ड-सा दहकने लगता है। पीड़ा से दिमाग फटने लगता है और अनायास ही लगने लगता है कि इस दुर्भाग्यशाली देश में दलित जाति में पैदा होना भयंकर पाप है। यदि पैदा भी हो गए तो इतना दुःख अपमान सहना पड़ता है कि मरना अच्छा लगता है···ज़हर प्यारा हो जाता है। हृदय का अमृत सड़ जाता है और बचता है सिर्फ तलवार से भी अधिक क्रूर, कठोर आक्रोश ! इतनी मानसिक, बौद्धिक यातना मुझे सहन करनी पड़ी थी। यदि और कुछ दिन मैं वहां जाति छिपा-कर रहा होता, तो शायद पागल हो गया होता या नाग के समान ज़हर लिए हुए बंबई आ गया होता। अच्छा ही हुआ। वेतन के दिन रामचरण के घर मेरे सामान की चोरी हो गई और इस प्रकार एक चोर ने मेरी जाति की चोरी जाहिर कर दी। वैसे रामचरण तिवारी ने मेरी, अपने गुरु की इच्छानुसार लातों से, मुक्कों से अच्छी-खासी मरम्मत कर दी। और काशीनाथ सकपाल में सामूहिक क्षोभ से मेरी जान बचायी। घटना इस प्रकार है···

···मैं दधना स्टेशन पर सुबह की रोशनी के साथ उतरकर इंजिन रोड़ की ओर बढ़ रहा था। नौकरी मिलने की खुशी से मेरा मन, पाषाण-सा आक्रामक, बारिश-सा पराक्रमी बन गया था। इस भीतरी संबल के कारण मुझे किसी का डर न था। कोई भी पराया नहीं लग रहा था। सब करीबी लग रहे थे। कहीं कोई दुःखद घटना होगी, इसका तनिक भी आभास नहीं था। मेरा मन, शरीर चैतन्य से ओतप्रोत थे। इसलिए मुझे कोई चिंता न थी। मैं जो भी बोलूंगा सही होगा। मिट्टी में हाथ डालूंगा तो सोना निकलेगा, ऐसा मेरा विश्वास था। क्योंकि ट्रेन में रात-भर जाग कर मैंने कितने ही सुन्दर सपने संजोये थे। इस तरह मैं भोर की हवा-सा बहता जा रहा था। मेरे सामने जा रहे मजदूरों के झुंड को मैंने आवाज़ दी। सारा झुंड रुक गया। उसमें से वॉयर-फिटर रणछोड़ मेरी ओर मुड़ा, "केम भाई, सूं छे ?"

मैंने शुद्ध-साफ़ गुजराती में अपनी बात कही। रणछोड़ तत्काल किराये में मकान देने पर राजी हो गया। उसके साथ बैठा मज़दूर आश्चर्यचकित हो मुझे देखने लगा। मेरा कोट, टोपी, धोती, कोल्हापुरी चप्पल, मेरे हाथ की मायकोवस्की की कविता की पुस्तक और दूसरे हाथ का ट्रंक, उस पर बंधे बिस्तर की ओर वह आश्चर्यचकित हो सब देखने लगे। उन सबके चेहरे पर मेरे लिए आश्चर्य-मिश्रित आदर देखकर, नौकरी मिलने के आनंद को पीकर प्रफुल्लित मेरा मन, प्रेमांध-प्रणयी-सा बहकने लगा था।

इस तरह मैं खुशी में धुत्त हो गया। तभी रणछोड़ ने डरते-डरते पूछा, "पर, आप किस

जाति के हैं ?"

यह सुनते ही मैं क्रोधी मेघ-सा गरज पड़ा, "आपने क्या समझकर मेरी जाति पूछी ? मैं कौन हूं, क्या आप नहीं देख सकते, मैं कौन हूं···मैं बंबई का हूं। सत्य-असत्य से लड़नेवाला, मरनेवाला, शस्त्र और शास्त्र धारण करनेवाला, भारत को मुक्ति और शक्ति देनेवाला··· समझे ? या और बताऊं ? अपने प्रताप के विजय गीत फिर गाऊं ?" आनन्द से उन्मत्त, यह गर्जना करता हुआ मैं आगे बढ़ गया। सारी रात सपने देखकर मस्ती से मेरा मन आगे और निरंतर आगे दौड़ रहा था। और पीछे झुंड की कानाफूसी मेरे कानों में पड़ रही थी। देवजी कह रहा था—"अरे रणछोड़, उसे मत छोड़, किराया मत डुबा। मराठी आदमी है, निडर है शायद ब्राह्मण हो या कि क्षत्रिय। बुला ले। वापस बुला ले, जा जल्दी।"

परन्तु मेरे आघात से घायल रणछोड़ मेरे पास आने से हिचकिचा रहा था। देवजी से कह रहा था। उनकी डरपोक हरकतें देखकर मुझे लगा, वे मारे लोग मेरी जेब में समा जाएंगे।

रणछोड़ ने डरते-डरते मेरे पास आकर कहा, "देखिए, नाराज़ मत होइए। अपरिचित व्यक्ति से हम जाति पूछते ही हैं। ऐसी हमारे देश में प्रथा है। मैंने आपको मकान दे दिया, किराया पांच रुपये···ठीक है ?

रणछोड़ को टोकते हुए देवजी बोला—"भई, अपनी जाति संग माटी खाओ, पर पर-जाति के साथ हाथी पर बैठने में भी कुछ नहीं धरा। और आपके जैसा आदमी अछूत-दलित के घर जाकर रह नहीं सकता। चोरों के घर घुसकर अपना सर्वस्व थोड़े ही खो देगा कोई।"

"मेरे सामने, नए भारत के नए नागरिक के सामने, ऐसी बात करना ठीक नहीं। हम सब देश के शिल्पकार हैं। न कोई दलित, न कोई ब्राह्मण।"

"ग़लती हुई।"

"हां, ग़लती तो निश्चित हुई। इसीलिए तो अपना भरा-पूरा भारत, भिखारी हो गया। समझे !"

"परन्तु मकान के बारे में क्या ? आप आयेंगे ना ?" रणछोड़ अपनी दयनीयता प्रकट करते हुए कहने लगा।

"सोचकर बताऊंगा।"

"अब क्या सोचना। मेरा मकान अच्छा है। पास ही पीछे पानी का कुंआं है। आम के पेड़ हैं। तरह-तरह के पक्षी वहां रोज़ आते हैं। गाते हैं। हां तो, आपका आना निश्चित समझूं ?"

रणछोड़ की लाचारी पर, वर्णन पर प्रसन्नतापूर्वक उद र होकर मैंने हामी भर दी। वह आनन्दित होकर आग्रह करने लगा—"चलिए, चाय पीयेंगे।"

"आप चलिए, मैं अभी आया।" और वह अपने साथ सारे लोगों को लिए हुए तेजी से आगे बढ़ा। मालगाड़ी के डिब्बों की कतारें पार करते हुए, कभी डिब्बों के नीचे से, कभी डिब्बों की शंटिंग बचाकर, वह धुंए से मटमैले वैगन में घुसा। उस वैगन में, चाय-नाश्ते की कैन्टीन थी।

कैन्टीन में बैठने की कोई व्यवस्था नहीं थी। फिर भी वह दौड़ता हुआ भीतर घुसा और मेरी ओर इशारा करता हुआ कुछ बता रहा था कि अचानक मेरे कानों में बंदूक की गोली-सा एक कठोर शब्द आरपार हो—"महार।"

"महार", रणछोड़ गरदन घुमाकर चिल्लाते हुए बोला। उसी समय मेरी गरुड़-सी

गगनभेदी की उड़ान भद् से जमीन पर फैल गई। आनन्द से प्रफुल्लित मन अचानक ही रक्त-हीन-सा हो गया। मेरे खून की चेतना गायब हो गई। आंखों के सामने तब के संवाद शैतान बनकर नाचने लगे। मैं अपनी ही जगह चिर गये घाव-सा स्तब्ध रहा।

बड़ी खुशी में, अपना जो व्यक्तित्व मैंने खड़ा किया था वह कामगारों ने मनु को मानने वाले धर्म के अनुसार, मेरी जाति तय कर दी थी। और कैंटीन से किसी ने मुझे दूध की मक्खी-सा निकल फेंका। अब क्या करूं? इसी उधेड़बुन में था कि रणछोड़ का प्रश्न मेरे कानों से टकराया।

"तिवारी जी, महार याने क्या भाई?"

और तिवारी जी, अपनी नीम-हकीमी पर नियंत्रण पाते हुए बोले—"महार याने महाराष्ट्रीयन। श्री शिवाजी के आदमी। लड़नेवाले।"

"नहीं पंडित जी, वैसा नहीं है। मैं डा० बाबासाहब आंबेडकर के पंथ का…जाति का…मेरा नाम काशीनाथ सकपाल, बंबई का रहनेवाला काली चौकी के पास का।" काशीनाथ की आक्रामक आवाज़ सुनकर मुझे कुछ सांत्वना मिली। मेरे कलेजे की थरथराहट कुछ शांत हुई।

तिवारी जिज्ञासावश तत्काल बोला—"अस्पृश्य यानी अछूत…?"

"आपका शब्द ठीक है पंडित जी" काशीनाथ ने तिवारी का उपहास करते हुए कहा। उधर तिवारी भड़क गया और चिल्लाया—"मारो साले अछूत को।"

"मारो", भीतर बैठे सभी चिल्लाये। होठों तक पहुंचता कप नीचे रखा, दोनों हाथ जेब में डाले छाती गर्दन सीधी करते हुए काशीनाथ ने सिंह गर्जना की—"आओ, कोई भी आओ। तिवारी तू भी आ जा, रणछोड़ तू भी, आ ऐ बुढ्ढे तू भी आ, मोट्या तू भी आ, कोई भी आओ, तीनों भी आओ। एक…दो…तीन आओ उठो।"

परन्तु कोई भी नहीं उठा। सब भीगी बिल्ली की तरह काशीनाथ को टुकुर-टुकुर ताक रहे थे। और उधर काशीनाथ पूरे जोश में था। वह ललकार रहा था। अत्यंत जोश में कह रहा था…"जाता हूं, तुम्हारे फोरमेन को भारत का संविधान बताऊंगा और सबको जेल भेजूंगा। सबको नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा समझे?" काशीनाथ रोबदार कदमों से बाहर आया।

भीतर प्रत्येक व्यक्ति डर गया था। उन सबमें नानाजी पांचाल अत्यंत घबराया लग रहा था। वह हमेशा फोरमेन ऑफिस की ओर देखता। अचानक खड़ा होकर वह चिल्लाया, "दौड़ो, वह बंबई का अछूत यदि फोरमेन को लेकर आया तो सबकी नौकरी जायेगी। सत्यानाश होगा। भागो!" बस, सब भीड़ उठकर भागने लगी। उनकी डरपोक हरकतें देखकर तिवारी भड़क उठा—"बैठो, अभी मैं हूं, भैय्या से कहकर उसी को हटवा दूंगा।"

उनका भाई फोरमेन क्लर्क होने के कारण कुछ लोगों को दिलासा मिला और कुछेक की ज़ुबान गालियों तक आ गयी। प्रत्येक व्यक्ति गालियां बकता हुआ इंजिन रोड की ओर बढ़ने लगा। उसकी 'मरम्मत' करने की योजना बनने लगी। उनका क्रोध देखकर मैं इतना दुःखी हुआ कि वहां एक पल भी रुकने की बजाय, बंबई वापस लौट जाना ही अच्छा लग रहा था। उन लोगों का तिरस्कार असहनीय था। परन्तु घर की गरीबी की याद आते ही, बीमार बैल के सामने गर्दन झुकाये फोरमेन के आफिस की ओर बढ़ गया।

झुकी हुई गर्दन और लड़खड़ाते कदम देखकर देवजी सहानुभूति से पूछता है, "अचानक

क्या हो गया ?···थक गये क्या ? लाइए बक्सा मुझे दे दीजिए। जल्दी जाइए और उस बंबई के अछूत से सीनियर हो जाइए। साला भूत के समान भयंकर है। जल्दी जाइए। बक्सा मैं संभालता हूं। यहां चोर बहुत हैं और वे सारे चोर ये कायर ही हैं।"

'ना'। जातिचोरी के कारण और उनकी तीव्र जातीय भावना देखकर, मैंने उसकी सहानुभूति की तनिक भी कद्र नहीं की। कदम-कदम पर मुझे अपना ही डर लगा रहा, फोरमेन ऑफिस में न जाना ही ठीक होगा, ऐसा संघर्ष मेरे मन में उठ रहा था। फांसी के तख्ते पर जा रहे कैदी-सी मेरी मनोदशा थी। किसी तरह मैं फोरमेन-ऑफिस की सीढ़ियों तक पहुंचा। अति-चिन्ता के कारण सब कुछ भूलकर स्तब्ध खड़ा था।

इतने में बिजली-सा गरजता हुआ काशीनाथ सीढ़ियों से दौड़ता हुआ आया। उसका आवेश देखकर मैं दंग रह गया। जैसे ही वह नीचे पहुंचा, मैंने उसकी बांह पकड़ कर कहा—"ठहरिये, ज़रा मुझे बताइए।"

तूफान बना काशीनाथ झटके से बांह छुड़ाकर अलग हो गया। भर्र से जेब का चाकू निकालकर चिल्लाया "हट जाओ···खलास कर दूंगा।"

"अरे भाई, तुम पर क्या गुज़र रही है, मैंने सब सुना है। मैं भी बंबई का ही···तुम्हारा अपना···।" रणछोड़ को पास आते देखकर मैंने 'जाति' की बात गले के नीचे ही रखी। उधर वह लगातार गालियां बकता घटित घटनाओं का उल्लेख करता तूफान के समान निकल गया।

उसके अपमान से मैं आगबबूला हो गया। नौकरी छोड़ने के उद्देश्य से सीढ़ियां चढ़ने लगा और फांसी को गले लगाने वाले शहीद के समान, फोरमेन क्लर्क माताप्रसाद तिवारी के टेबल के पास जाकर खड़ा हो गया। माताप्रसाद के पास एक स्टूल पर रामचरन तिवारी बैठा था। मैं हर तरह से तैयार था।

"क्यों, उस आवारा अछूत के साथ, क्या बातें कर रहा था।"

और उसके ख्वाब के टुकड़े-टुकड़े करने के उद्देश्य से मैंने कहा—"कौन अछूत ? आग भी अछूत होती है, सूर्य भी अछूत है, मृत्यु भी। पंचमहाभूत की अछूत है।"

"आखिर तुम्हारा मतलब क्या है ? क्या तुम भी बंबई के हो ?···"

नौकरी की परवाह तो थी ही नहीं। तिवारी की ही ऊंची आवाज़ में मैंने कहा···"हां, मैं बंबई का···। वह नगर जो क्रान्ति का विश्वविद्यालय है। जिस मनु ने आदमी को कौड़ी मोल कर दिया है। इस दिव्य देश को बंबई के आदमी ने मुक्ति दिलाई है। उस नगरी का मैं श्रमवीर नागरिक हूं। मेरे हाथों भारतीय विकास की पटरियां हैं।"

"क्या ?" उसने घबराकर कहा। रामचरण की आंखें आश्चर्य से छलछला रही थीं। उसके प्रश्न पूछते ही, मैंने उन्हीं वाक्यों को फिर दोहराया।

"उस अछूत की बातें सुनकर, तू मुझे बंबई की बातें मत सिखा। मैं माताप्रसाद हूं।" मैंने उसे लहूलुहान कर नौकरी को तिलांजलि देने की बात सोच ली थी। इसलिए बोला, "मैं ? नए सार्वजनिक सुखों का शिल्पकार···मानवता के लिए लड़नेवाला···मरनेवाला जुझारू ! बंबई मेरी बस्ती है।"

"बको मत", वह गुस्से में चिल्लाया।

"मैं बक नहीं रहा। नए भारत का मंत्र बता रहा हूं। नयी भाषा में नये भारतीयों का

परिचय दे रहा हूं।"

"चुप! सीधे बात कर नहीं तो···"

"सीधे ही तो बोल रहा हूं। मैं श्रमवीर नागरिक हूं, मनु के पिछले देश को दिव्य-भव्य करने वाला।"

"आप कवि हैं?" रामचरण का चेहरा आनन्द से खिल उठा। वह मेरी ओर उत्सुकता से देख रहा था। उसकी इस भावना की अवहेलना मेरे लिए असंभव बात थी। मैंने नम्रतापूर्वक उसके प्रश्न का उत्तर दिया—"जी हां, तिवारी जी।"

"वाह-वाह", रामचरण झट से उठा और मुझसे हाथ मिलाने के लिए उसने दोनों हाथ आगे कर दिए। इस बीच दंभी माताप्रसाद चिल्लाया—"रामचरण!"

रामचरण नाराज़ हो नीचे बैठ गया और माताप्रसाद ने अत्यंत तुच्छ-दृष्टि से प्रश्न पूछा, "नाम क्या है?"

उसने जैसे ही कलम दवात में डुबाई, मुझमें नौकरी का लोभ जाग गया। घर की गरीबी की याद आते ही मैंने जो उदण्डता की थी उसके लिए पश्चाताप होने लगा और नौकरी के लिए मैंने अत्यंत नम्रतापूर्वक अपना नाम बताया।

जैसे ही उसने मेरा नाम लिख लिया। मेरे द्वारा की गई उसकी अवहेलना का मुझे पश्चाताप होने लगा। मैंने कहा—"माफ कीजिए···"

वह खुश हो उठा और बड़प्पन मिलता देख बोला, "तुम हिन्दी हमारी तरह बोल लेते हो। बिल्कुल ब्राह्मणों जैसी।"

उदार होकर उसे बड़प्पन भोगने देने की इच्छा में मैं बोला—"साहब, हिन्दी संत तुलसी की, कवि कबीर की, निराला की, प्रेमचंद की है।" मेरे इस उदाहरण से भावुक और भोला रामचरण खुश हो मन ही मन गद्‌गद् होने लगा। वैसे माताप्रसाद अचानक बोला, "सर्टीफिकेट्स कहां हैं?"

मैं क्षण-भर विचारमग्न खड़ा रहा। फिर बेफिक्र हो, पर नम्रता से बोला—"ग़लती से घर रह गए।" और मेरा झूठ पच गया या नहीं, यह पढ़ने लगा।

"कहां तक पढ़े हो?"

"नॉन मैट्रिक। कला-साहित्य की ओर विशेष रुचि होने के कारण आगे पढ़ नहीं पाया।"

"अपने वाले यहां ग़लती खा जाते हैं। इसीलिए ये अछूत बेरोक-टोक आगे बढ़ जाते हैं, बड़े आफिसर, मिनिस्टर बन जाते हैं। और रेलवे में तो इतनी सुविधा है कि यदि काशीराम ने तय कर लिया तो कल क्लर्क बन सकता है। वह भी तुम्हारी तरह नॉन मैट्रिक है। और तुम दोनों क्लीनर रहते ही वह फायरमेन, ड्राइव्हर, कन्ट्रोलर हो जाएगा। इसलिए जल्दी सर्टिफिकेट मंगवा लो, समझे।"

"जी साहब!" नम्रता ओढ़कर मैंने उसे प्रणाम किया। और यह तय कर डाला कि किसी भी हालत में इसे सर्टिफिकेट नहीं दिखाना चाहिए।

"जाओ। तुम बाद में आए, फिर भी मैंने तुम्हें सीनियर बना दिया।"

"तुम्हारे आने से पहले ही रणछोड़ ने बताया था। और देखो इसके साथ ज्यादा मत रहना। इसको शायरी ने बरबाद कर दिया है। समझे···जाओ।"

मैं नीचे उतरकर अपना ट्रंक उठाने लगता हूं। तभी अचानक आगे आकर रामचरण मेरे हाथ से ट्रंक लेते हुए बोला—"छोड़िए भी, आज से आप मेरे गुरु। मुझे कविता समझाया कीजिएगा।"

रामचरण की श्रद्धा देखकर मैं घबरा गया। परन्तु वह मुझसे अत्यन्त अपनत्व और सद्भावना से बोल रहा था। उसकी श्रद्धा और स्नेह के सामने मैं असहाय हो गया। और उसके अपनेपन ने मेरे रोगी मन को भी प्रसन्न कर दिया था। मैं अपना क्रोध, अपराध भूलने लगा था। मैं उससे बातें करता आगे बढ़ रहा था। अचानक काशीनाथ की अत्यन्त संतप्त-आवाज़, मेरा कलेजा चीर रही थी और मुझे पीछे खींच रही थी। मैं रुक जाता हूं। वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था—"मैं अछूत हूं। इसलिए संडास-पेशाब घर की बजाए यहां दीवालों के पास की गई गंदगी मैं साफ नहीं करूंगा।"

"तुम्हें वही करना पड़ेगा। झाड़ना ही पड़ेगा"—निचली जाति का मुकादम, माताप्रसाद के हुकम की तमील कर रहा था। इसे देखकर रामचरण खुश हुआ। और मेरी व्यग्रता को अंत नहीं मिल रहा था। काशीनाथ मुकादम पर चिल्ला-चिल्लाकर अपनी झंझलाहट व्यक्त कर रहा था। इस झगड़े को देखने बहुत से कामगार इकट्ठे हो गये। मुकादम को उत्तेजना भी दे रहे थे। और इस गड़बड़ी की आग पहले दिन ही सुलगकर काशीनाश की नौकरी पर आंच न आने पाये, इसलिए मैंने मुकादम के पास जाकर कहा—"मुकादम साहब, इस प्रकार के हल्के-फुल्के काम जवान, सशक्त और पढ़े-लिखों से क्यों करवाते हैं ? ये अपंगों के लिए... इसलिए !"...

मुझे आगे बोलने का मौका न देकर तिवारी आवेश में आकर बोला—"अर्थात् अपंग, बूढ़े, ब्राह्मणों के लिए ये काम होते हैं ? वाह उस्ताद !"

तिवारी के इस उत्तर से काफी लोग खुश हो गये थे। मुझ पर नाराज़ भी हुए। कुछ लोगों की आंखें मेरी ओर शंका से देख रही थीं। तिवारी का 'वाह उस्ताद' यह शब्द मुझे चुभ गया था। फिर भी मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि उन शंकाग्रस्त आंखों से मैं डर रहा था। फिर भी कुछ तो उत्तर देना चाहिए। इसलिए मैंने कहा—"तिवारी, तरुणाई देश की अमर और अद्भुत संपत्ति है। वह पंचमहाभूतों के समान प्रचंड छठवीं शक्ति है। इस दीन-दुःखी देश को छोड़कर तरुणाई का इतना अपमान कहीं नहीं किया जाता। इसलिए इस देश की दसों दिशाओं में दुःख के अलावा कुछ नहीं...।"

मेरी बात किसी को अच्छी नहीं लगी, उल्टे बहुतों के होंठ मेरी जाति जानने के लिए फड़फड़ा रहे थे। यह देखकर मेरे पेट से चिंगारी उठ रही थी। काशीनाथ के लिए मैं चिंतित था। परन्तु वह भी जिद पर अड़ा था। मुकादम भी बात सुनने की हालत में नहीं था और लोग काशीनाथ के खिलाफ थे। मैंने हृदय की वेदना दबोच ली और आगे बढ़ गया।

इस पहले दिन के साथ ही हर सुबह दुःख का पहाड़ बनकर मेरे सिर पर ढहती थी और इसके नीचे, मेरी मेहनत से बना मेरा व्यक्तित्व टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। काशीनाथ तो रोज आग पर जलता। रोज किसी न किसी बात से उसका किसी न किसी से झगड़ा हो जाता। इस-लिए अधिकांश कामगार उससे दुश्मनी से पेश आते। उसकी छोटी-मोटी ग़लतियां भी न पचतीं। लोगों के छलपूर्ण व्यवहार के कारण वह हर आदमी के साथ संशय से पेश आता। पागलों की तरह कल्पनाओं में अकेले में भी झगड़ता। हमेशा जेब में चाकू रखता। उसकी कल्पना की उग्रता में

समझ सकता था। इस परदेस में गरीब मां-बाप के अत्यंत अभिमानी उग्र युवक के जीवन की ऐसी अवहेलना न हो, इसलिए मैं उसे संभाल रहा था। अकेले में मिलता तो उसे समझाने की मैं कोशिश करता। उसे शांत रखता। गुस्से में अंधा होकर किसी पर चाकू न चला दे, इस बात की ओर मैं विशेष ध्यान देता। और मेरी यह सहानुभूति लोगों की नज़रों में न खटके, इसका भी विशेष ध्यान रखना पड़ता। इस सावधानी के कारण मैं अपने आपको दुर्बल, डरपोक, मूर्ख करार देकर खुद को कोसता रहता।

और इसी माहौल में मैं स्वयं प्रत्येक व्यक्ति से बड़ी सावधानी से पेश आता। बेछूट बातें करनेवाला मैं, प्रत्येक शब्द नाप-तौलकर बाहर निकालता। डरपोक खरगोश की तरह, लोगों को देखकर छिपने की कोशिश करता। बंबई की भीड़ की गंगा में डुबकी लगानेवाला, अनेकों के बीच तितली के समान व्यस्त हो जाने वाला मैं, जाति चोरी का रहस्य खुल जाने के डर से अकेला, घनघोर अंधेरे में घुसता और वहां सबको कोसता···रोता। मुझे अपना समझने वाले रामचरण को भी अपने-आप से अलग रखता।

मेरे इस व्यहार से रामचरण जख्मी हो रहा था। फिर भी वह मुझे न छोड़ता। हर रोज दसों बार मेरे पास आता। रविवार को खाने का निमंत्रण आग्रहपूर्वक दे जाता। कई बार वह आग्रह कर हताश हो जाता और मैं उसे दानवी कठोरता से नकारता रहता। वैसे वह चिढ़कर भाई की डांट-डपट करता। उसकी यह श्रद्धा देखकर मेरे हृदय में लपटें उफान मारतीं।

इस तरह मैं भीतर ही भीतर एक यातना सह रहा था, ज्यों कोई मुंह दबाकर मुक्कों से पीट रहा हो। पगार का दिन पास आया। नौकरी छोड़ देने के फैसले के साथ मैंने छुट्टी का आवेदन दे दिया। सर्टिफिकेट लाने का कारण बताने के बाद माताप्रसाद ने तत्काल छुट्टी मंजूर कर दी। न जाने कैसे रामचरण को यह मालूम हो गया और वह दीन-याचना करते हुए मेरे पीछे पड़ गया। पगार के दिन मेरे घर खाना-खाने आइए। उसके आग्रह का मैं शिकार हो गया और हामी भर दी।

पगार मिली। नौकरी छोड़ूं या नहीं, यह मरा हुआ सवाल, फिर जीवित होकर मुझे मेरे घर की दुःख-लाचारी दिखाने लगा। नौकरी की गरज बताने लगा। और मैं, फिर बेचैन हो उठा। अपनी ग़लती पर भीतर ही भीतर रोने लगा। निश्चित निर्णय पर पहुंचने के लिए, अंधेरे कमरे में बैठकरसोचने लगा। लगातार सिगरेट पीता गया। परन्तु जाति जाहिर हो जाने के बाद की अपमानजनक जिन्दगी के लिए मैं मानसिक रूप से तैयार नहीं हो पाया। और इधर नौकरी छोड़ने के लिए भी मन तैयार न होता।

मैं इसी उधेड़बुन में था, तभी काशीनाथ की आवाज़ से चौंक पड़ा—"मास्टर···"

"आइए काशीनाथ, भीतर आइए।" जातिभेद की जंगली रूढ़ि से लहूलुहान काशीनाथ मेरे आग्रह-निवेदन करने पर भी अपने भाई के कमरे में आने से हिचकिचा रहा था। और वह बाहर ही खड़ा रहा।

"आइए भी···मैं भी आपका ही हूं ···" उस शौर्यशाली युवक के अपने ही भाई के पास आने के संकोच को देखकर मेरा गला भर आया था। सत्यकथा बताने के लिए मेरे शब्द होठों तक आ गये थे। परन्तु रणछोड़ की धमकी की याद कर मैं मौन रह गया और वापस न लौटने वाले आंसू, धोती के छोर से पोंछ रहा था।

"मास्टर, यदि आपने मुझे प्रत्येक झगड़े से बचाने की, संभालने की कोशिश न की होती,

तो मेरे हाथों इन दो भूतों में से—रणछोड़ या रामचरण का खून हो गया होता। फिर मेरे बूढ़े मां-बाप और पत्नी का क्या होता ?

"मास्टर, मेरा स्वभाव बहुत गरम है। मेरा बड़ा जवांई बड़ा दुष्ट आदमी है। वह मेरी बहन को रोज छलता है, मार-पीट करता है। और मैं उसका छल, मारपीट देखकर इतना भड़क उठता था कि मुझे भोजन तक अच्छा न लगता। जब मैं मैट्रिक में था, तब उसका छल और बढ़ गया। उसे सीधा करने के लिए मैंने गुंडों की मदद ली और उसे खूब पीटा। और यहीं से मेरा स्कूल हमेशा के लिए बंद हो गया।

"मास्टर, मैं यह नौकरी छोड़ दूंगा···अब बंबई जाऊंगा, जो भी काम मिलेगा, करूंगा मैट्रिक पास करूंगा···कालेज जाऊंगा···वकील बनूंगा। नहीं, अब एक कामगार ही रहकर नहीं मरूंगा। भयंकर, अति भयंकर जीना है यह···यह कहते-कहते उसकी आंखों से चिनगारी फूट निकलती। तलवार से तीक्ष्ण मन के काशीनाथ का संपूर्ण दुःख-दर्द मेरी आंखों में साकार हो उठा, उसी प्रकार मेरा मन भी भर आया था।

"सकपाल,···मैं भी नौकरी छोड़ दूंगा। यहां रहना तो जीवित मरण है, मरण भोगते-भोगते जीना। हम साथ ही चलेंगे, मुझे भी अपने भीतर का दुःख तुम लोगों को सुनाना है। काशीनाथ, मैं भी तुम्हारा ही···!" मैं उससे माफी मांगकर जाति चुराने की कथा सुनाने ही वाला था कि काशीनाथ को दरवाजे पर, मेरे पास खड़ा देखकर, वैरभाव और तिरस्कार से चिढ़ा हुआ, रणछोड़ पशुओं-सी निर्भयता से बोला—"क्या चल रहा है! कल बंबई जा रहे हैं तो क्या मेरा कमरा भी भ्रष्ट करते जाएंगे।"

"गधे···आ तेरा मुर्दा गिराता हूं।" काशीनाथ अचानक अत्यंत प्रक्षुब्ध होकर सर्रर से पीछे मुड़कर रणछोड़ पर टूट पड़ता है। बाहर निकला रणछोड़ सीधे घर के भीतर भागा। जाति भेद के दानव से काशीनाथ के दिमाग में हुए परिवर्तन से मेरा कलेजा धक् से रह जाता है। मैंने उसे झट पीछे खींच लिया। वह पिघल गया। मुझ पर निढाल होकर वह मेरे कंधों पर किसी बच्चे-सा पड़ा रहा थोड़ी ही देर में जेब से लपलपाता हुआ चाकू लेकर, अंधेरे में गायब हो गया।

मैं भयभीत होकर अंधेरे में अपनी ही जगह से उसे टटोलता हूं। अपनी ही जगह खड़े रहकर। मैं दिया-बत्ती और खाने की सुधबुध भी भूल जाता हूं। जातिभेद का यह भयंकर रूप देखकर मेरा दिमाग फटने लगता है।

"उस्ताद···" श्रावणधारा-सा आनंदित, भागता हुआ आकर रामचरण कहता है। उसकी आवाज़ सुनकर 'धेड़' जाति को अनेक गंदी गालियां देता हुआ रणछोड़ फिर बाहर आ गया। रामचरण के पूछते ही वह अत्यन्त क्रोधित हो, सारी घटना सुनाने लगा और मुझे भी घसीटने लगा। मेरी जाति पर शंका करने लगा। बस इतना सुनते ही रामचरण उस पर उखड़ गया। अपने ब्राह्मणत्व के अहंकार से पूरित वह रणछोड़ पर चढ़ाई करने लगा। रणछोड़ भी अपनी क्षत्रिथ जाति की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए रामचरण को नीचा दिखाने की कोशिश करने लगा और मैं उनके इस युद्ध के बीच भीतर जाकर अपने ट्रंक, बिस्तर तैयार कर बाहर आ जाता हूं। रणछोड़ के दरवाजे पर खड़े होकर मैंने उसकी पत्नी को किराया दिया और आगे बढ़ा।

रामचरण झगड़ा बीच में ही छोड़कर मेरे पीछे भागा और कुछ गुस्से में बोला, "आपको मैंने भोजन का निमंत्रण दिया है। लेने आऊंगा, यह कहकर गया था। फिर भी आप मुझसे एक शब्द न बोलते हुए बाहर निकल आए ?"

मैं उस पर मौन-दृष्टि डालता हूं और फिर गर्दन नीची किए अंधेरे में आगे बढ़ने लगता हूं।

"उस्ताद! बोलिए क्या हुआ? रणछोड़ ने आपका अपमान किया? मारा?…मारा क्या…? बोलिए, साले की टांग तोड़ डालूंगा। बोलिए…"

"कुछ नहीं।" मैं सिर्फ गर्दन हिलाकर कहता हूं। वैसे उसकी आवाज भर्रा गई थी। वह अपनी जगह खड़ा रहकर ही दोनों हाथ हवा में क्रोध से उछालते हुए भर्राये कंठ से कहने लगा—"परन्तु मैंने आपसे कितनी बार प्रार्थना की कि आप उस अछूत के साथ बात मत कीजिए…"

"क्यों? वह और मैं एक मां के, एक भाषा के बेटे हैं। उसके नीचे जो धरती और ऊपर जो आकाश हैं, वही मेरे नीचे-ऊपर है।"

"आप गरुड़ के समान भर्र से ऊंचे निकल जाते हैं। थोड़ा नीचे उतरिए। हम साधारण कामगार हैं।"

"इसीलिए हम नवीनता के रचनाकार हैं, जीवन के प्रति उत्तरदायी हैं।"

"उस्ताद! चलिए, घर चलें।"

"रामचरण, क्षमा करें। अभी-अभी मैंने बहुत ज़हर नीचे उतारा है और नहीं पचता… अब बस्स। कृपया मेरे साथ चलिए। आपको एक महत्वपूर्ण बात बतानी है।" मैं उसे जाति चुराने की घटना सुनाने वाला था।

"नहीं, गुरुजी सरस्वती बहुत दुःखी होगी। वह मुंह में पानी तक न रखेगी। आज सारा दिन खपकर…"

मेरे नहीं कहते ही वह सीधे मेरे पैर पकड़ने नीचे झुका। उसकी अपार श्रद्धा से गदगद हो मैंने कहा, "मित्र चलो, तुम्हारे प्यार की खातिर मैं मौत भी सह लूंगा। चल।"

हम दोनों चुपचाप उसके कमरे के सामने खड़े थे। वह बड़ी खुशी में आवाज़ देता है, "सरस्वती, बाहर आ। इनको प्रणाम कर।"

और हमारी प्रतीक्षा करती बैठी सरस्वती पावों की पायल झनकारती मंद-मधुर चाल से बाहर आती है। मेरे नहीं-नहीं कहने के बावजूद गोरी, आकर्षक, छरहरी, चमकीले काले बालों वाली, सिंदूर भरी मांग वाली, लाल सुर्ख बिन्दी लगाए प्रसन्न प्रकृति की सरस्वती, छाती तक आंचल ओढ़कर, अपने पति से उम्र, रूप व रंग में कम उस्ताद के पैरों की वंदना कर निकल गई। भारतीय नारी की यह प्रतिभक्ति देखकर मेरे मन में खलबली मच गई।

उसके पीछे-पीछे वह भीतर गया और बाल्टी भर गरम पानी, तेल की कटोरी, साबुन की कोरी टिकिया लेकर बाहर आया और बड़े उत्साह से बोला—"यहां बैठिए, स्नान कीजिए …मैं तेल लगाता हूं।"

वैसे मैंने शरमाते हुए कहा—"भाभी को पैर छूने को कहकर एक ग़लती कर ली। पर अब मैं और नहीं सह सकता।"

"परन्तु, इसमें क्या बात है? अतिथि भगवान का रूप होते हैं।" सरस्वती दरवाजे के पीछे से बोली।

"नहीं, नहीं…मैं पहले ही अधमरा हो गया हूं। अब मर जाऊंगा।"

वह हंसी। मैं हाथ-पैर धोकर भीतर गया। काशीनाथ को मैंने कैसे रोके रखा यह प्रसग रणछोड़ ने नमक-मिर्च लगाकर बता दिया था। इस बात की याद आते ही लगा कि रामचरण

शायद इसीलिए मुझे स्नान करने का अधिक आग्रह तो नहीं कर रहा है। यह शंका मन में उठते ही मैंने कहा, "हम बाहर ही खाना-खाने बैठेंगे।

"रहने दीजिए, आप एक ब्राह्मण के गुरु हैं। भीतर चलिए।" मेरा हाथ खींचते हुए वह मुझे भीतर ले गया।

"पर मैं ब्राह्मण नहीं···"

"क्या फर्क पड़ता है ! आप मेरे गुरु हैं···।" वह मुझे पाट पर बैठाता है। सरस्वती हम दोनों को हवा पहुंच सके, इस हिसाब से पंखा झल रही थी। सरस्वती की यह सेवा मेरे लिए सज़ा के समान थी। रामचरण के आग्रह से मेरी बेचैनी और बढ़ जाती। जोखिम की जो कसरत मैं कर रहा था, इतनी कसरत दुनिया में किसी को न करनी पड़ी होगी।

भोजन होते ही रामचरण ने बाहर बैठक तैयार कर ली थी। सरस्वती के आते ही उसने अपनी शायरी शुरू की। मैं अपनी बेचैनी दूर करने के लिए उसकी प्रेम-कविताओं पर वाह-वाह कर रहा था। सरस्वती खुश होगी, इस तरह मैं बीच में कविता रोककर उसका अर्थ समझाता हूं। उससे उऋण होने की कोशिश कर रहा था। भीतर ही भीतर उस देवी से घबराया हुआ था।

काफी रात बीत के जाने बाद वह आनंदित हो भीतर चला गया। और मेरे मन की वेदना का उफान नींद आते ही थम सका था।

अचानक चारों ओर के लात-मुक्कों से मेरी नींद खुल गई। रामचरण का पूरा कमरा लोगों से खचाखच भरा हुआ था। उनमें से कुछ लोग, मैंने जाति चुराई इसलिए, क्या-क्या गालियां बक रहे थे। और कुछ, घर में घुसे सांप को कुचलने-सा मुझे कुचल रहे थे। अति-भक्ति वाला रामचरण भयंकर भूत-सा मुझे प्रश्नों के साथ लताड़ रहा था। उसकी पत्नी ने मेरी जो सेवा की थी, उसी की चिढ़ उसके मन में थी और उसका क्रोध शांत ही न होता। पल-पल वह उग्र होता गया।

मैंने जीवित बचने की आशा ही छोड़ दी थी। दु:ख से, लांछन से मेरी जीभ गल चुकी थी। रामचरण का दानवी रूप देखकर मेरे मुंह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। मेरी आंख में आंसू का एक कतरा भी नहीं था। जिधर झुकता, उधर ही लुढ़क जाता।

और परपुरुष के सामने कभी न जाने वाली सरस्वती भीतर से ही चिल्ला रही थी— "उनका कोई दोष नहीं। वे इधर आ ही नहीं रहे थे। बहुत आग्रह के बाद भी नहीं आए। उनका सब कुछ चोरी चला गया। उन्हें छोड़ दीजिए। नहीं तो मैं उन पर बिछ जाऊंगी···।"

इतने में हो-हल्ला मचा। लोग कमरे से भागने लगे। एक-दूसरे को चिल्लाकर बताने लगे, "ओ, बंबई का धेड़-मवाली हाथ में छूरी लेकर आदमी काटने बढ़ रहा है। भागो···भागो··· ।"

तभी सरस्वती भीतर से विद्युत गति से बाहर आई और एक झटके से पति को खींचकर भीतर ले गई। दरवाज़े की कुंडी चढ़ाकर मेरे पास बैठ गई और अपने आंचल से, मेरे सिर-मुंह का खून पोंछने लगी। उसकी आंखें चौकस थीं। और मां के स्नेह से पूरित उसके कोमल हाथ, मेरे जख्मों को सहला रहे थे।

इतने में, तूफान-सा, हाथ में चाकू नचाता काशीनाथ भीतर घुसकर चिल्लाता है, "मास्टर कमाल कर दिया।"

उसकी शाबाशी मुझे अभी-अभी पड़ी मार-सी जख्मी कर गई। और उसे देखते ही

सरस्वती झट उठकर दरवाजे को पीठ टिका अपने सुहाग की रक्षा के लिए खड़ी हो गई।

"हट जाओ।" हाथ का चाकू उछालता काशीनाथ चिल्लाया। वैसे वह जवाबी-हमले की तैयारी में ही खड़ी थी। काशीनाथ उसका अपमान न करे उसकी चूड़ी तक जख्मी न हो, इसीलिए मैंने घायल अवस्था में भी उठकर कहा— "चल काशीनाथ···।"

जैसे ही वह मुझे सहारा देकर दरवाज़े से मुड़ता है, वह विद्युतगति से झपटी और अब तक दबाकर रखे आंसू मेरे पैरों में सींचकर उतनी ही तेज गति से दरवाजा खोलककर रामचरण की ओर भागी। अब उसे तनिक भी डर नहीं रहा। और हम अपनी राह निकल पड़े।

मेरा सब कुछ चोर ले जा चुके थे। रामचरण ने सारे सर्टिफिकेट फाड़ डाले थे। मेरी गर्दन झुकी हुई थी और कदम लड़खड़ा रहे। भीतर, क्रांतिमान शहर-सी, खलबली मची थी। और काशीनाथ हाथ में नंगा चाकू नचाता हुआ ललकार रहा था।

बस्ती से बाहर आने के बाद काशीनाथ कहता है, "मास्टर, चलिए अब पुलिस-स्टेशन"

"नहीं"

"आपने इन मूर्खों की मार क्यों कर सही ?"

"मैंने कहां उनकी मार खायी है ? मुझे तो मनु ने मारा है ! चल काशीनाथ···!"

अनुवाद : **दामोदर खड़से**
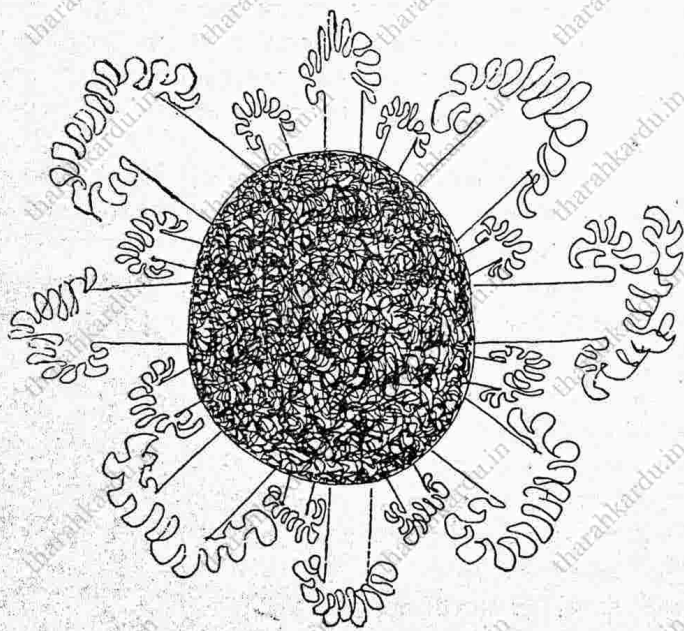
दो कविताएं

□ **प्रताप सहगल**

जंगल

जंगल
जिनके पास अपना कोई इतिहास नहीं होता।
इतिहास में फिर भी कहीं दर्ज होता है जंगल
जंगल
सुनता है खामोश हवाओं का दर्द
हवाओं के दर्द को देता है आवाज़
साँय…साँऽऽय…सूँऽऽऽ सूंऽऽऽ
पी लेता है
हवाओं में तैरता आदमी का ज़हर
जंगल।

जंगल
फैलने लगता है इतिहास की सीमाओं से बाहर
भर देता है शिराओं में अपना सूनापन
निचाट जंगल की बेचैन खामोशी
रच देती है आँखों की पुतलियों में
तैरता दर्द
जंगलकद दहशत से
भर उठता हूँ मैं।

खामोश खड़ा जंगल
अव्यवस्थित
सहता रहता है वक्त की चाबुक की मार

खामोश—सदियों तक खामोश
और जब कभी चीखता है
जंगल
हवाओं में पड़ जातीं हैं काली दरारें
दरकने लगता है आसमान
चटखने लगती है ज़मीन की नस-नस,
दोस्तो ! जंगल नहीं है सिर्फ एक शब्द
जंगल एक सत्ता है
अपनी व्याख्या की इन्तज़ार करती सत्ता
खामोश/खौफनाक/दहशतज़द/
जकड़ी हुई हमारे इतिहास के साथ
मुझे व्याख्या दो !
मुझे व्याख्या दो !!
मुझे व्याख्या दो !!!

पैंगोलिन

फैंगोलिन देखा है आपने
पैंगोलिन की जीभ बहुत लम्बी होती है
पैंगोलिन का काया-कवच बड़ा मजबूत होता है
झेल सकता है गोली की भी आग
पैंगोलिन के दाँत नहीं होते
अपनी खुरदरी लम्बी जीभ से ही
चट कर जाता है चींटियों का वर्ग
यों पैंगोलिन जंगल को सन्तान है
पर अब
पैंगोलिन
कहीं आ बैठा है ऊँची इमारतों में
पहचानो तो !

[एफ० 101, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027]

नौ कविताएं

□ सत्यपाल सहगल

प्रकृति

मैं
एक वृक्ष था
जिस पर
अनन्त कविता-चिड़ियाँ
चहचहा रही थीं

काव्य-प्रक्रिया

जो है
उसे देखकर
मैं
जो नहीं है
उसे मानने की कोशिश करता हूँ।
जो नहीं है
उसे मानकर
मैं
एक कविता का जन्म जानता हूँ।

प्यार-1

ओ प्यारी लड़की
मैं तुम्हें बहुत प्यार करता हूँ।

बन्द कमरे की चुप हवा है तू
खिड़की से आती
अंगुल चौड़ी धूप में

मैंने देख लिया है
कि हज़ारों बिन्दु तुम में व्याकुल हैं

ओ खामोश लड़की
मुस्करा नहीं
कि ऐसा करके
काट रही हो मेरी रक्त नालियां

ओ लड़की बोल, बोल
क्योंकि नदियों का रुकना ठीक नहीं
ओ भोली लड़की
समझ इसे।

प्यार-2

एक हँसते हुए दिन में
मैंने तुम्हारी गोरी कलाई थामी
तुम्हारी शुभ्र हथेली को चूमा
और उसे हवा में यूं छोड़ आया
जैसे बच्चा
नदी में
कागज़-नाव धरता है

काश !
दिनों की
प्रतिलिपियाँ कर पाते।

पत्र

पुल के नीचे
ओ कमजोर लड़की
कह देना
अपनी सारी गाथा।
मुझे जाना है
लम्बी
और अकेली यात्राओं पर
देर के लिए।

भावुकता

परवेज़ मेहंदी की एक ग़ज़ल
किसी के पत्थर किए दिल को
कैसे
बालू का घर साबित कर देती है
इसे कहने के लिए
मुझे
कविता का पर्दा चाहिए

अवसाद

मैं सोचता हूँ
कि मैं महसूस कर रहा हूँ
कि मुझे
न जाने क्या हो रहा है
सोचने और महसूस करने के बीच
मैं
हारी हुई फौज की तरह घिरा हूँ।

आश्चर्य

जब कविता दुश्मन बन जाए
जिससे आप आशा करते थे
एक लाठी बनने की
वह हो जाती है पांव के नीचे की चिकनाहट
और फिसल कर
आप उसी अँधेरे में डूबने लगते हैं
जहाँ एक किरण-पुंज के साथ
कविता
छाया की तरह आई थी।

भूमिका

एक अँधेरे की
ओट किए रहता हूं
वहीं से
किए को कहता हूँ।

तीन कविताएं

□ हरिशंकर अग्रवाल

चिंगारी

फूल का खिलना
चिन्गारी का फूटना है
जो उसके भीतर बह रही थी
थोड़ी सी हवा मिली, कि
खिल गयी ।

बच्चों के लाल-लाल होठों पर
तैर रही है—चिंगारी
जब वे हंसते हैं, जैसे
फव्वारा छूटा हो
चिंगारियों का

जिस वक्त उनके चेहरे मुरझाये और
उदास होते हैं—उनके भीतर
लाखों चिंगारियां राख होकर
ढेर हो जाती हैं
और उनका बचपन
योजनाओं में चीखने लगता है ।

हवा में नाचते हुए पेड़
वसन्त के साथ-साथ
आग के घर भी होते हैं
ऐसे ही होते हैं—शब्द
प्यार व्यक्त करते हुए
क्रांति के स्वर।

सुन्दर दुनिया

अपने केन्द्र से निकलकर मैं
तुम तक पहुंचता हूँ
जहाँ तुम मेरी परिधि बनती हो
दर असल, तुम मेरे केन्द्र का विस्तार हो
केन्द्र से परिधि तक की रिक्तता में
जैसे झरना बहता हो
तुम्हारी हँसी का।

मैं कभी अकेला नहीं होता
भीड़ में या एकान्त में
जहाँ कहीं भी होता हूँ, तुम
नब्ज़ में खून की तरह धड़कती हो।

गेहूँ की बालियों में
भरे दूध सा—तुम्हारा प्यार
धीरे-धीरे पक रहा है
पिघला हुआ लोहा—जैसे
कोई शक्ल ले रहा है।

मैं अपने इस प्यार का गुणा
शब्द और बीज के साथ—करना चाहता हूँ
ताकि हरी-भरी नाचती गाती हुई दुनिया को
बिखरने, और आदमी के खिलाफ़ होने से
रोका जा सके
और मैं लिख सकूं
ढेर सारी प्रेम कविताएँ।

शब्द कभी नहीं मरते

हजारों शब्द कैद हैं किताबों में
उन्हें खोलो और बिखेरो
बीज की तरह, कई गुना होने के लिए
वे उठेंगे समूचे पौधे को लेकर
हवा की खाली जेबें भरेंगे

और कविता का रिश्ता
मिट्ठी से जोड़ेंगे।
शब्द आतुर हैं
तुम्हारे साथ चलने के लिए
दफ्तर-कारखानों-खदानों
खेतों-जंगलों और मैदानों में
जहाँ तुम काम करते हो
एक-एक करके
तीस दिन गिनते हो
और रोज़-रोज़ किसी नई घोषणा में गिरते हो।

ठीक ऐसे ही वक्त में—शब्द
तुम्हें हाथ पकड़ कर उठाना चाहते हैं
और तुम्हारे भीतर
खून की तरह बहना चाहते हैं।

शब्दों की पवित्र दुनिया को
बरछी की नोक पर उठाये
बीसवीं सदी को रोंद रहे हैं—हमलावर इरादे
लेकिन शब्द कभी नहीं मरते
अंगारों की तरह सुलगते रहते हैं
गाते हैं आजादी के गीत और
पैदा करते हैं—बेंजामिन मोलाइस।

[आकंठ, आजाद वार्ड पिपरिया, म. प्र. 461775]

तीन चित्तेरे : अनेक चित्र

□ अरविन्द रंचन

रेखा-चित्र

वह सेंकता शिला पर
बूटियाँ
जड़ें
हाड़-खाल
वनस्थलियाँ
मुंह बंद कर पीता
धार विष की
फिर अज्ञात सागर में
हो जाता विलीन
आँख खुलते ही पटल पर
छा जाता अँधेरा
आड़ी-तिरछी रेखाओं का

तैल-चित्र

धूप में तपता अकेला
चक्का स्वर्ण-पत्थर का
टूट कर छितरा
एक खण्ड सूर्य
पकाता झील का जल
बंद कर आँख की पुतली
देखता बराबर
लाल पहाड़ की तलाई पर

रेत के कण
अकेला जोड़ता नाता
पर्वत से

छाया-चित्र

दिन के उजले धाम
मैंने देखा
पर्वतमाला का शीर्ष भाग
और जीया
पहाड़ की ठोस शिला को
बैठ जिस पर
उतार बर्फ़ की पृष्ठ भूमि में
ख्याति संग
पौरुष का छाया-चित्र
समेट कर ले गये तुम
निजी ऐलबम में
सजाने के लिए

तुम्हें डर है
भूल न जाओ तुम
अपना नया कोट
कॉलर होल्ड पर जिसके
टांके थे तुमने
मौसम के फूल

हवा के खिन्न झोंकों से
बचने के लिए
ओढ़ लिया था मैंने
अपना पुराना पट्टू

पहाड़ तो हमेशा बदला है
नये कोट की तरह
धुंध में डूबते परिदृश्य-सा
बरसात में कभी

धूप खिलेगी तो ज़रूर लेंगे
धूड़ में आपका चित्र
पर बैठिएगा गर दोबारा
उस शिला पर
सो रहे होंगें
परजीवी रेशे
बदलते मौसम की ओढ़े
मखमली चादर

[पर्वतारोहण केंद्र, स्वर्गाश्रम धर्मशाला, हि० प्र०]
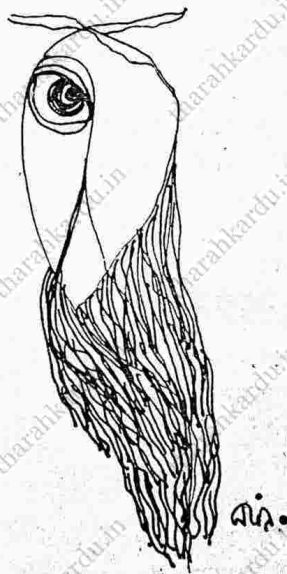
हंसता है समुद्र

□ आनन्द

बेशर्म
हो गया है समुद्र
निशंक सीना रोंदते जलयान
उपहास करते झंझावात
चेहरे पर
नाखूनों से हस्ताक्षर करते
बर्बर तूफान
जब तब कन्धों से पकड़ कर
झकझोर देते हैं
वात्याचक्र
तब सूने आकाश की ओर
ताकते हुए
खोखली हंसी हंसता है समुद्र।

सो जाता है/समुद्र
अब फिर/उतर जाएगा
तहखाने में
दक्षिणी गोलार्द्ध के सूर्य की तरह
फिर ओढ़ लेगा
लिजलिजी उदारता का झूठा खोल
निष्प्राण विशालता की केंचुल
गले में डाल
संस्कृति की दुहाई देगा
व्यापकता की कवच को/बरबस लपेटे
असफल गर्व से उन्मत्त

हतवीर्य सागर
खो चुका है अस्मिता
सरकस के शेर की तरह
खोखली गर्जना पर जीवित है
रत्नाकर

बदस्तूर जारी है
चौराहे पर/चेहरों का गिरना
दो-चार घरों के चिराग
गुल होना
तदपि व्याकुल नहीं है पारावार
रोज़ बैसाखियों पर
अपनी लाश उठाए
वह पहुंचता शमशान
लहूलुहान पांवों का दर्द छिपाकर
हर शवयात्रा में शरीक होता है
और शराबी पति से
रोज़ पिटती पत्नी की तरह
सांझ ढले
घर की चौखट पकड़ कर
रोता है।

चकित है
निस्सहाय समुद्र
बढ़ रही है
अगस्त्य की प्यास
छीज रहा है सागर
धीरे-धीरे
सीने पर दोनों पांव जमाए
चीख रहा है
लक्षमुख दैत्य
आदमखोर/क्षुधातुर
मांग रहा है बलि।

एक दिन

सागर उठेगा
पर तब
उसकी छाती पर उगा देगा
भयावह जंगल
वक्ष पर बैठे होंगे
काले विषधर
माथे पर उठ खड़ा होगा
विशाल कैक्टस
निर्जन मरु की तपती सिक्ता पर
भटकेंगे उसके पांव
और उसके हाथ ?
हाथ उसके खाली होंगे !

[राजकीय महाविद्यालय ऊना, हि० प्र०]
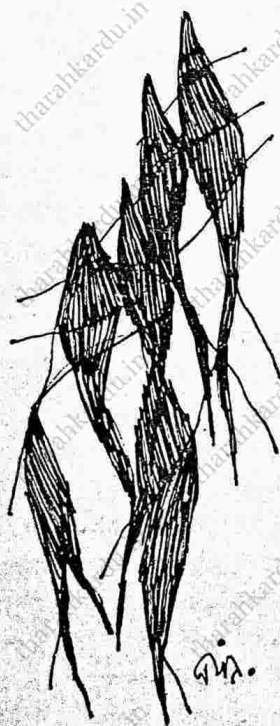
काली कविता के प्रमुख कवि

□ **अनुवाद एवं प्रस्तुति : रमेश दवे**

कीनिया—पूर्वी अफ्रीका का एक स्वतंत्र राष्ट्र और ब्रिटिश कामनवेल्थ नेशंस का सदस्य। पूर्व में हिन्द-महासागर से आवद्ध और साथ ही सोमाली गणराज्य भी, उत्तर में इथयोपिया और सूडान, पश्चिम में उगाण्डा, दक्षिण में टंजानिया। अंग्रेजों ने पहले जंजीवार के सुल्तान से मोम्बासा और लामसे द्वीपों को पट्टे पर लिया। कीनिया नाम कीनिया पहाड़ के नाम से दिया गया। यहाँ किकियू समुदाय का वाहुल्य है और कीनिया पर्वत का मतलब है **केरे न्यागा** अर्थात् **श्वेत-पर्वत**। यहाँ गैर-अफ्रीकी केवल तीन प्रतिशत हैं। यूरोप के लोग नाकुरू, हासीन, गिशू, टांसनजोया, केरिको, लेकिपाई और ठिक्का के उच्च पठारी जिलों में रहते हैं। भारतीय और पाकिस्तानी यहाँ प्रमुख व्यापारी और कामगार वर्ग है। बहती नदियों और घने बनों से लदा यह देश एक प्रकार से प्रकृति का अद्‌भुत पार्क है।

यहाँ के तीन प्रमुख जनबोली समूह हैं। खेतिहर समूह जो **बाण्टू और निलोटिक** बोलता है, चरवाहा समाज जो **निलो-हेमिटिक** बोलता है, और सबसे बड़ा **किकियु** समुदाय जो कीनिया पहाड़ के आसपास बसा **बाण्टू** ही बोलता है। उत्तरी भाग में मेरू, एम्बू, काम्बा संस्कृतियाँ हैं, पश्चिम में खेतिहर जनजाति की **लूहया-संस्कृति** है, दक्षिण में **निलोटिक लियो-बाण्टू गुसाई**, किसी और अन्य छोटे बाण्टू समाज की संस्कृतियाँ हैं, पूर्व में **बाण्टू, टेटा** समुदाय हैं। उत्तरी पहाड़ियाँ **किलिमेन्जारू** पर्वत की शृंखला हैं। तटीय इलाकों में भी बाण्टू समुदाय है जो **गिरियामा** और **पोकोमो** कहलाता है जो आधा अरबी और आधा अफ्रीकी है। यहाँ दोनों की मिली-जुली भाषा स्वाहिली है।

जर्मनी के चर्च मिशनरी पहली यूरोपीय जाति के लोग थे जो यहाँ आए। 1833 में जोसेफ टाम्सन पहला ब्रिटिश यात्री यहाँ पहुँचा। जोमो कैन्याटा यहाँ का महान राष्टपति होने के साथ **फेसिंग द माउण्ट कीनिया** जैसे भौगोलिक उपन्यास का लेखक भी है जो एक क्लर्क के पद से इतना ऊपर उठा। उसी के नेतृत्व में कीनिया की आजादी का संघर्ष सन् 1961 तक चला और 12 दिसम्बर 1963 को यह एक पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र बना, जिसका पहला प्रधानमंत्री जोमो केन्याटा था जो आगे जाकर यहाँ का राष्ट्रपति भी हुआ। केन्याटा को अफ्रीका में कीनिया का गाँधी माना जाता है जिसने आजादी का संघर्ष अपने गिकुयू समाज के साथ छेड़ा। देशव्यापी आंदोलन के नेतृत्व के कारण उसे सात बरस का कारावास भोगना पड़ा।

जोनाथन कारियारा, **जान मबिति**, **ओगुटू**, **एलबर्ट ओजुका**, **एडविन वैयाकी**, **रिचर्ड राइव** जैसे कवियों ने नायजीरियन कवियों की तरह यहाँ के संघर्ष को कविता के माध्यम से सारे विश्व में पहुँचाया। यहाँ के **मबरी** जाति के लोगों का **माओ माओ आन्दोलन** जंगल पर निर्भर जन-समाज का एक ऐसा प्रगतिशील आन्दोलन था जो आगे चल कर अफ्रीकी किसान, मजदूर और जंगल आन्दोलनों का पर्याय बन गया। यहाँ का सर्वाधिक प्रतिभावान उपन्यासकार और कवि **नगूजी** नेलसन मण्डेला की तरह व्यवस्थाविरोधी और समाजवादी विचारधारा के कारण जेल में है जहां से वह टॉयलेट-पेपर पर अपनी रचनाएं जेल से बाहर भेज कर कीनिया के समाज को अपने हक की लड़ाई का संदेश दे रहा है।

जोनाथन कारियारा

जोनाथन कारियारा कोनिया के एक प्रगतिशील कवि हैं। काली चेतना का जो आन्दोलन सेनेगल के पूर्व राष्ट्रपति सेंघोर, नायजीरिया के महान कथाकार अचिबी और कीनिया के महान समाजवादी नेता और उपन्यासकार नगूजी ने छेड़ा था, कीनिया की धरती पर उसे प्रभावशाली बनाने में कारियारा की भूमिका महत्वपूर्ण है।

अफ्रीका का स्वप्न

उस रात में सोया
देखा सपने में—
चमक रहे थे हम सब
विदेशी शिक्षा की सफेद माटी में।

यह सब चौंका गया
मेरे जैसे उस काले आदमी को
जो सोया हुआ था अन्दर
और मैंने देखा—
पूरे मन से, पूरे शरीर से
वह उठा था जहरीला।

काट फेंकने बंधी रस्सी
दौड़ पड़े कीड़े
सरसराते विचारों के,
चल पड़े जूते कीलदार
हवा की तरह उड़ने लगीं किताबें
और चीख उठा मैं—
अरे !
गड़ा दिए दाँत ये तीखे किसने
गरदन पर मेरी ?

खोड़ रहा कौन मिर्च-सी चिमटियाँ
थमा दी किसने किताबें हवामयी ?
पढ़ता गया, पढ़ता गया
हवाओं के अक्षर,
जो कुछ था किताबों में
चुभ गया दिमाग में वह
बहुत परेशान है दिमाग अब,
क्या करूँ—
समझते कुछ भी नहीं हम
जानते कुछ भी नहीं हम
अपने ही बारे में
किताबें कोई भी हों
कहीं की भी हों
मुझे करना होगा एक काम
समझानी होगी किताबें
उनका शब्द-शब्द
पढ़ाना होगा—
तुम क्यों हो, क्या हो ?
मुझे शुरू करना होगा पूछना
मेरे लिए
और उस अन्दर सोए हुए
जहरीले आदमी के लिए,
डॉक्टर, डॉक्टर
क्या बीमारी है मुझे, उसे
उस रात तुमने दी थी कोई दवाई
बोतल में बन्द थी—
रेडीमेट गोलियाँ थीं शायद
सब कुछ भूल जाने की
मगर तुमने कहा था
गोलियां वे मानसिक विकृति ठीक करने की,
मगर मुझे लगता डाक्टर
गोलियां थीं वे—
विद्रोह को पलंग पर मरीज़ की तरह लिटाने की !
क्या थे कारण—
इस तरह लिटाने के

क्यों थे कारण ?
तुम जानते हो—
मरीज के लिए होते नहीं कारण—
मरीज कारण खोजेंगे—
डाक्टर मर जाएंगे,
क्या खूब जानते इलाज तुम
इलाज नहीं, अपना धंधा
कर देते हमारी नस-नस ढीली
सुला देते मर्ज
नहीं-नहीं मरीज़ को
या दोनों को
और सड़ा देते दोनों को।
सफेद सभ्यता की सड़ांध पुरानी ये
उस पर शिक्षा बहुत उजली
साफ, सफेद मिट्टी की,
कितना बड़ा है अन्तराल
सड़ांध और चमक के बीच ?
गुज़र चुका वक्त
देख चुका स्वप्न कई
अब तुम्हारी ही किताबों के उलट रहे अक्षर
पैदा हो गई चमक मेरे भी अन्दर
और मेरा यह चेहरा काला
हो गया ज्वालामुखी !
अब तैयार है काला आदमी
भविष्य के आकाश में प्रश्न हैं कई
लेकिन शक है केवल एक
क्या चमक यह होगी सीप में पले मोती की
या घोंघे चुगती—
मछली के चांदी जैसे पेट की ?
क्या चमकूंगा मैं
या वह अन्दर सोया हुआ—
जहरीला आदमी,
या मैं और वह दोनों
बास उठेंगे—
मरी हुई मछलियों की सड़ांध की तरह ?

जॉन मबिति

जान मबिति का जन्म औपनिवेशिक काल में कीनिया में हुआ। उसने धर्मशास्त्र में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसने इंग्लैंड के एंगलीकन गिरजा में काम किया और फिर बरमिंघम एवं हेमवर्ग में विजिटिंग व्याख्यताता बना। उसने धर्म और साहित्य दोनों में लिखा। 1969 में 'पोएम्ज आफ नेचर एण्ड फैथ' कविता संग्रह निकला। अफ्रीकी साहित्य, कला व संस्कृति पर उसने खूब लिखा।

पीछे की ओर चलना

मैं लगातार अपने ही सर के नीचे
चलते-चलते थक गया हूं
हमेशा अपने शरीर का वज़न अपने पैरों पर उठाये
अपने ही सर के नीचे
चलते-चलते
दरअसल बहुत थक गया हूं !
मैं अपनी नाक के पीछे
चलते-चलते थक गया हूं
मैं इस बात से भी थक गया हूं कि
जो भी रास्ता मैं अख्तियार करता हूं
मेरी नाक सीधा रास्ता दिखाती है मुझे,
इसलिए अब मैं पीछे की तरफ चलूंगा
और अंततः मेरी नाक
चलेगी मेरे पीछे-पीछे !

मैं अपनी गरदन घुमाते-घुमाते भी
थक गया हूं,
हर दृश्य पर टिकाते-टिकाते गरदन अपनी
दरसल बहुत थक गया हूँ,
अब आइंदा बिलकुल नहीं घुमाऊंगा मैं,
अब मैं एकदम कड़क सीधा चलूंगा

बात बिल्कुल नहीं करूंगा,
ताकि अब तुम मेरे लिए छटपटाओ
और मुझसे प्यार के साथ बातें करो !

हे भगवान
मेरी गरदन थक गई है
आसपास की चीजों पर मुड़-मुड़ कर देखते
इसलिए इसे अब बिल्कुल सीधी और कड़क करते
उस रास्ते के ठीक सामने
जिस रास्ते पर तू मुझे ले जाना चाहता है।

मैं सुन-सुन कर थक गया हूं
सुन कर कारों, ट्रकों और रेलगाड़ियों को,
ब-ब-ब-बहुत-बहुत थक गया हूं
लगभग मरणासन्न
इन बहराती, गूंजती टकारती आवाज़ों से।

हे भगवान
मुझे घुमा दे उस तरफ
कि मेरे कान में सिर्फ
तेरी ही ध्वनि सुनाई दे,
मैं बाहरी दुनिया के
तथाकथित प्यार
और अन्दर के स्वार्थ से थक गया हूं,
हे भगवान मुझे टेलीफोन कर
मुझे झकझोर कर जगा
अपने महान प्यार से मुझे हिला दे
तब जाकर मैं हसूंगा
हमेशा-हमेशा के लिए !

ओनयांग ओगुटू

कीनिया के उत्तरी तट पर विक्टोरिया न्यान्जा में 1944 में पैदा हुए। किसुमू और येला में शिक्षा प्राप्त की। स्टोर कीपर, सेल्ज मेनेजर व व्यापार प्रतिनिधि की नौकरी के साथ कविता करते रहे। सन् 1974 में ईस्ट एफ्रीकन पब्लिशिंग हाउस से उनका पहला कविता संग्रह 'कीप माय वर्ड्स' निकला जो लुग्रो मौखिक कविता की एक महत्वपूर्ण कृति माना गया। सन् 1968 में जब उसने किसुमु कला उत्सव में अपना पहला काव्यपाठ किया तो सारे कीनिया में वह मशहूर हो गया।

रानियाँ

मेरी बच्ची
दलाल ही जानता है दी गई तारीख
दलाल को ही मालूम है तुम्हारी तारीख।
तुम्हारे अधर—
आक्सपैकर चिड़िया की लाल चोंच से ज्यादा लाल
तुम्हारी देह रेशम और ऊन से ज्यादा कोमल
तुम्हारे केश
लहराती हवा में जैसे नाचती कठपुतली
या काले बादल उड़ते आकाश में
काले, बिल्कुल काले,
घोड़े की अयालों से सजा तुम्हारा मस्तक
सुनहरे घोड़ों की
शानदार अयाल
और तुम्हारा हतप्रभ करता रूप !

प्यार और ज़िन्दगी की यह
बेमिसाल भेंट त्याग कर
तुम्हारे इस कलात्मक सौन्दर्य पर कुरबान होता
हमेशा प्यार करता, मर जाऊंगा कुंवारा ही
लेकिन करूंगा नहीं कभी भोग

न ही बंधूंगा किसी विवाह-बन्धन में !

नगर-कन्या
तुम पर ईश्वरीय कालेपन का लगा हुआ है कलफ
तुम्हारे बहुरंगी कपड़े
दलदल में सने हुए,
दिलों और पैसों से लबालब पर्स की रानी
तुम खड़ी वहां
बड़ी गाड़ियों के पहिये
कानों में तुम्हारे डोल रहे गोल-गोल कुण्डल,

तुम्हारा प्रेम······जंग लग जाती उसमें इतनी जल्दी !
मेरी लड़की !
दलाल को मालूम है तारीख
दलाल ही जानता तुम्हारी तारीख
कार नहीं अब
फ्रिज नहीं अब
फ्लेट नहीं अब
सब लिए थे किराये पर
सब चले गए—
स्ट्रिप्स तक नहीं शरीर पर तुम्हारे
नज़र आ रहीं तुम्हारी साफ नंगी एड़ियां
तुम एक कौमार्य
सरल सुन्दर कौमार्य
लौट आओ वहां
शुरू किया मैंने जहां से,
मेरी बिटिया
मैं नहीं जानता कुछ—
दलाल को मालूम है तारीख
दलाल ही जानता है वह दिन !

और देखो,
तुम भी गई,
ज़िन्दगी की लहर के साथ गई,
रानियां होती हैं······

झील की लहरें,
हल्के हवा के झोंकों से लहरा जातीं जो
और शांत हो जातीं किसी चट्टान से टकरा कर
या झील के किनारे को छूकर
पानी की ज़ोरदार छपाक की तरह
टकराता ज़िन्दगी का उफान
और हो जाता शांत
किसी चट्टान या किसी किनारे के पास आकर।
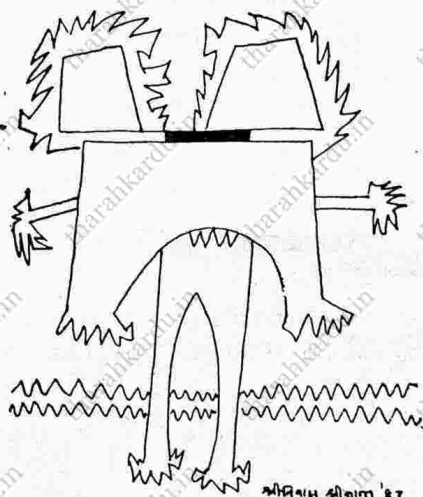
अलबर्ट ओजुका

अलबर्ट ओजुका 1945 में न्यान्जा कीनिया में पैदा हुए। नैरोबी से बाहर किकुयू में पढ़े। ट्रांस-वल्ड एयर लाइन्स में नौकरी की। ईस्ट एफ्रीकन पब्लिशिंग हाउस की काली कविता पर निकलने वाली पत्रिका ड्रम-बीट में लिखते रहे। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के जरिये काली कविता में एक अलग पहचान बनाई।

रात

चक्रव्यूह में फँसा पड़ा हूँ मैं,
लगता है किसी आकाशी वेल्डर ने
गिरा दी हों झुलसी चिंगारियाँ
नीचे की तरफ
और धरती कड़कड़ाहट भरी आवाज़ से
थर्रायी हो,
लगता जैसे कोई दे रहा चेतावनी
कयामत की !
फिर देती सुनाई
छूटे हुए बरतनों में
बारिश की तड़तड़ाहट
जो याद दिलाती छूटे हुए बछड़ों की,

मैं फौरन अपनी चटाई से उठता
और गहरे अंधेरे में
अंधी आँखें उंगली से टटोलती मदद को
मैं फिर चिमनी जलाता
अंधेरा कुछ कम होता
लेकिन फौरन ही
चिमनी बुझ जाती, और मैं कोशिश करता छुपने की
जैसे कोई पानी की लहर

छपाक से आ गई हो लौट कर
और भर रही हो फिर पानी
उलीचे गए गड्ढे में ।

जैसे ही मैं अपने झुप्पड़ का बाँस का दरवाजा
लगता हूँ खोलने
ग्राम-दैत्य के भारी कदम सुनाई पड़ते,
जानबूझ कर, इरादतन मेरी झोपड़ी के पास से गुज़रते
मुझे लगता
यह एक चेतावनी है कोई जोखिम मोल न लेने की !

मेरे बाल मेरे सर पर हो जाते सीधे खड़े
जैसे बिल्ली के रोयें
हो जाते खड़े उस वक्त
जब वह भाँप लेती
आसपास किसी कुत्ते की मौजूदगी ।
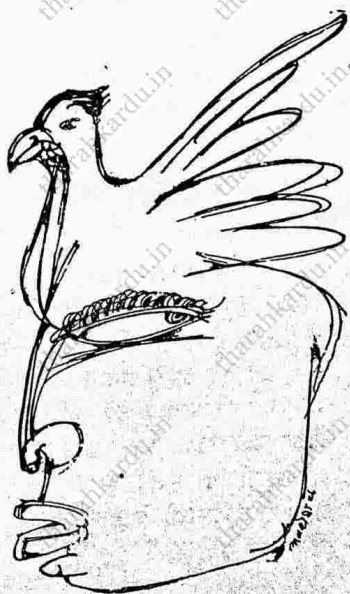
एडविन वैयाकी

1942 में कीनिया के किकुयू कस्बे में जन्म, स्ट्रेथमोर कालिज ग्रौर फ्रांस के बिसंको विश्वविद्यालय में शिक्षा ली। फ्रांस के ही इंस्तीत्यूत दे होते ऐत्यूदे द ग्रौतरे मेग्र में उच्च ग्रध्ययन किया। स्ट्रेथमर में द स्क्रॉल नामक पत्रिका के फ़ीचर सम्पादक रहे। पूर्वी ग्रफीका की पत्रिकाग्रों ग्रौर ड्रम-बीट में उनकी कविताग्रों को सम्मानजनक स्थान मिला।

प्रस्फुटन

बारह बरस की उमर में
त्याग दिया मैंने धरम
उसके पीछे छुपी छटपटाती दास्तान का सत्य जानकर :
जहाँ कालों के माथों पर
सींग लगा कर जला दी जाती थी मशालें नर्क की
और सफेद देवदूत
लकदक वेशभूषा में
बैठाये जाते थे स्वर्ग के सिंहासन पर !

यद्यपि मैं इस बात के लिए था
बहुत कमसिन, कमअक़्ल
कि जा सकूं उस खदान की तह तक
मैं जानता हूँ
मैं खुद हूँ एक ग़हरी खदान
जो घण्टी की आवाज़ सुन कर
दिखा नहीं सकती अपनी कोई तड़प
और न ही हवा में तैरती
आवारा प्रार्थनाओं के खिलाफ
हो सकती खड़ी !

बारह बरस की इस उमर में

मेरे पास कोई आधार नहीं कि
मैं लंगूर की तरह उछलने की इजाज़त माँगूँ
जब कि मेरे आसपास रक्तरंजित कोड़े
सनसनाते लहरा रहे हवा में
मैं चाहता हूँ
ये कोड़े बरसें उन पर
जो उनके जादू में अंधों की तरह बंधे हैं
और जिन लोगों ने हमें
सिर्फ चिन्ताओं के साधन और उपकरण दिये हैं !
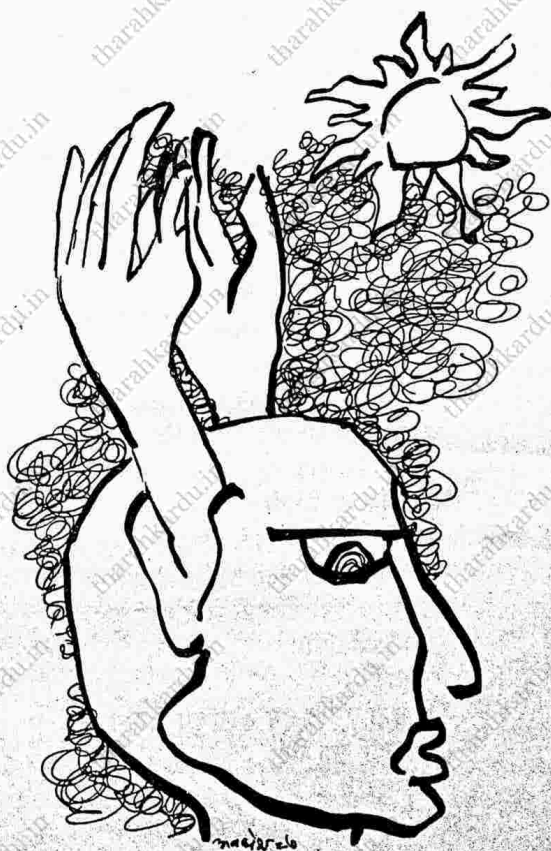
रिचर्ड राइव

1931 में अमरीकी निग्रो मल्लाह पिता के घर केप टाउन में पैदा हुए। उनकी मां भी केप की रहने वाली काली औरत थीं। केप टाउन विश्वविद्यालय से स्नातक हुए। उनकी कहानियों का कई भाषाओं में अनुवाद हुआ और कई देशों में प्रकाशित हुईं। अफ्रीकी गीतों का संग्रह सेवन सीज बर्लिन से प्रकाशित हुआ। आधुनिक अफ्रीकी गद्य पर किताब लिखी। इमर्जन्सी नामक उपन्यास फेबर प्रकाशन ब्रिटेन से निकला। कई कविताएं देश विदेश में छपीं।

जहाँ खत्म होता इन्द्रधनुष

जहाँ होता इन्द्रधनुष का अन्त
चल रहे उसी जगह
मेरे भाई !
जहां जाकर गा सकते हर तरह के गीत
हम मिल जुलकर गाएंगे वहां गीत
मेरे भाई !
हाँ, तुम और मैं दोनों
भले ही तुम श्वेत हो
और मैं नहीं हूं तुम जैसा !
वकह ए दुखद गीत होगा
उदास गीत होगा मेरे भाई
इसलिए कि हम जानते नहीं उसकी धुन
और जटिल भी बहुत है उसकी धुन
लेकिन मेरे भाई,
हम सीख सकते उसे
तुम और मैं सीख सकते वह धुन !
काली धुन जैसी होती नहीं कोई धुन
सफेद धुन जैसी भी नहीं होती कोई धुन
होता सिर्फ संगीत
मेरे भाई,
और वही संगीत हम और तुम गाएंगें
होता नहीं रंग कोई
संगीत का
जाएंगे हमारे गीत वहाँ तक
होता खत्म जहां इन्द्रधनुष !

मादाम बवुआ और सार्त्र

□ अशोक जेरथ

सार्त्र के साथ आजीवन बंधकर भी मादाम बवुआ स्वतंत्र रही। दोनों के बीच का जो सम्बन्ध रहा, अनेक दीर्घाओं में, विवादास्पद चर्चाओं का विषय बना। उन दिनों कैथोलिक चर्च द्वारा गर्भपात तथा विरोध जैसी प्रक्रियाओं को न केवल हेय दृष्टि से देखा जाता था, अपितु कुआंरी मां को दंडित किया जाता था। 'सैकंड सैक्स' पुस्तक के प्रकाशन से प्रभावित एक पुरुष प्रवक्ता ने, संभवतः पाश्चात्य जगत् में पहली बार साहस किया था कि वह कुवांरी मां को संस्थान से निकाले जाने का विरोध करे, "मां बनना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। संस्थान के कार्य कलाप में कोई अड़चन किसी वैयक्तिक कारण से नहीं आनी चाहिए।" परन्तु कितने लोग उसका साथ दे सके, यह बात अलग है, पर यह भी सच है कि मादाम बवुआ द्वारा लिखित उनकी पुस्तक 'द सैकंड सैक्स' ने पाश्चात्य जगत् में युवाओं, विशेषकर स्त्रियों को अत्यधिक प्रभावित किया था। यद्यपि इस पुस्तक के लेखन के पीछे 'वूमन लिव' जैसे 'स्लोगन' का कोई लक्ष्य नहीं था। अपितु विश्व के प्रसिद्ध पांच पुरुष लेखकों की रचनाओं में उभरी नारी-कथा तथा उसे एक महिला एवं संवेदनशील नारी की नजर से दिखने के फलस्वरूप 'द सैकंड सैक्स' की सृष्टि हुई थी। इस पुस्तक द्वारा नारी की मानसिकता, पुरुष का उस पर प्रभाव, यौनलालसा, विवाह, वैश्यावृत्ति, चाहत, रोमांस और सबसे अधिक नारी के बहुआयामी वजूद पर खुलकर पहली बार बातचीत हुई। बहुत शिद्दत से भोगा एवं अनुभव किया गया यथार्थ कि one is not born but rather becomes a woman—यद्यपि अति विवादास्पद उक्ति है तथापि इसके पीछे वर्षों के सम्बन्ध एवं वे सभी प्रक्रियाएं हैं जिनसे वह आजीवन प्रभावित रही। यथेष्ट साहित्य का अनुशीलन कर नारी की उन दुरूह आंतरिक गांठों को खोलने और विश्लेषण करने का यह किसी नारी द्वारा सम्भवतः पहला सार्थक और सशक्त प्रयास था जिनके बारे में चर्चा करना भी सम्भव नहीं था। मादाम बवुआ ने न केवल सिद्धांत प्रतिपादित किए अपितु अपने जीवन की स्वच्छन्द एवं स्वतंत्र इकाइयों के माध्यम से मिसाल प्रस्तुत की।

मादाम बवुआ के इस लेखन के पीछे सार्त्र के साथ बिताया हुआ उसका अपना पूरा इतिहास है। ल' हावर फ्रांस में अपने प्रारम्भिक अध्यापन काल से अंत तक सार्त्र मादाम बवुआ से जुड़े रहे थे। शुरू-शुरू में ज्यांपाल सार्त्र और मादाम बवुआ के बीच दुःखद स्थितियां उभरती रहीं थीं। सार्त्र अपने से लम्बी, नीली आंखों वाली इस सुन्दरी से अत्यधिक प्रभावित थे। धीरे-धीरे ये सौन्दर्य साम्राज्ञी उन्हें आकर्षित करती गई। उन्हीं दिनों सार्त्र जूलीवे से सम्बन्ध विच्छेद कर लि आने की एक सुन्दरी से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे कि उसके पिता ने सार्त्र को जानने के लिए जासूस उनके पीछे लगा दिया था। उक्त जासूस ने सार्त्र को नशे की झोंक में

अपनी मंगेतर को बुरा-भला कहते सुन लिया था जो इस सम्बन्ध के टूटने का कारण बना। सार्त्र इससे बुरी तरह प्रभावित हुए थे। सार्त्र अपने संस्मरण में लिखते हैं—"मैंने बोतल ली और अकेला खेतों में चला गया, खूब जम कर पी और रोया।" यह सार्त्र के जीवन का अति विवदास्पद मोड़ रहा। अब चोट खाया हुआ सार्त्र 'एगरीगेशन' की परीक्षा में दोबारा बैठा और न केवल पास हुआ अपितु सारे विद्यार्थियों में प्रथम स्थान भी प्राप्त किया। दूसरे स्थान पर थीं सीमान ब्रतरां दे बवुआ, जो अपनी कक्षा में सबसे कम उम्र की थी—सार्त्र से तीन वर्ष छोटी। सीमान के बारे में सोचते हुए सार्त्र के भीतर बहुधा उथल-पुथल मच जाती थी। सार्त्र अक्सर उसके सुन्दर शरीर पर टंगे हुए बेढब वस्त्रों की ओर संकेत करता था। यह दोनों के बीच में उठने वाली शुरू की सुगबुगाहट के दिन थे। उस समय मादाम बवुआ की उम्र 21 वर्ष और सार्त्र 24 वर्ष के थे। परन्तु यह पहचान बहुत धीरे-धीरे निरन्तर आगे बढ़ी और पूरी उम्र वे एक अनाम रिश्ते में बंधे रहे। मादाम बवुआ की प्रथम पुस्तक 'मिमायर ऑव अ ब्यूटीफुल डॉटर' में केन्द्रीय बिन्दु बनकर मुखरित हुआ। सार्त्र ने पहली बार अपने क्वार्टर में मादाम बवुआ को साइट विश्वविद्यालय में आमंत्रित किया था। चारों ओर बिखरे सिगरेट के टुकड़ों, पुस्तकों, कतरनों से कमरा भरा था। चारों ओर सिगरेट के धुएं का वातावरण था। इस कमरे को उभरते बुद्धिजीवी सार्त्र, निजाम तथा महत्रु शेयर करते थे। इन तीनों ने मादाम बवुआ को अपनी मंडली में स्वीकार कर लिया। इन चारों युवा बुद्धिजीवियों की बैठक में सार्त्र सबसे प्रमुख वक्ता होते। मादाम बवुआ लिखती हैं, "सत्य यह है कि सार्त्र हम सबसे ज्यादा 'सिलेबस' में दिए गए लेखकों एवं दूसरे पक्षों के बारे में जानता था। वह अपने ज्ञान से सदा हमें लाभान्वित करता था। मैं उसकी नम्रता से इतनी प्रभावित थी कि उसके सामने पड़ जाने पर नर्वश हो जाती थी। वह घंटों बोलता रहता था।" यही वे दिन थे जब मादाम बवुआ सार्त्र के रूप में अपना साथी पहचानने लगी थी। अब उनका एक-दूसरे से मिलना बहुत शीघ्र होने लगा था। परीक्षा की तैयारी में होने वाली थकान उन्हें विचारों के नए क्षितिज तलाशने से नहीं रोक सकी। एक-दूसरे की दूरियां पत्र-व्यवहार से पट गईं। अब लगभग हर रोज़ ही पत्र लिखे जाते और उनके उत्तर आते। पर इस सम्बन्ध में रोमांस कम, चिंतन की प्रखरता एवं प्रौढ़ता ज्यादा थी। इस बीच सार्त्र सेना में भर्ती होकर एकल चिंतन की दुरूहता एवं जड़ता को त्याग कर नए अनुभवों की तलाश में जुट गए परन्तु मादाम बवुआ के सन्सर्ग का मोह त्याग नहीं सके। वापस आकर फिर से अध्यापन शुरू किया। इस बीच उनका संपर्क विश्व की अन्यतम सुन्दरियों एवं विदुषियों से हुआ, जिनके सन्सर्ग को कभी भी सार्त्र ने नकारा नहीं। परन्तु मादाम बवुआ को गवां बैठने का भय सार्त्र के मन में घर करने लगा था तो दूसरी ओर वे अपने सिद्धांतों को त्यागने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण था कि सार्त्र ने 'आवश्यक प्रणय', 'आधा.प्यार' और 'दो वर्ष की छूट' की रचना की। इस तरह मादाम बवुआ सार्त्र की मुख्य साथिन रही। परन्तु यह मात्र एक स्त्री नहीं थी जिसे वे चाहते थे। वस्तुतः यह उन दोनों के बीच समझौता था—इसे मादाम बवुआ ने अपनी आत्मजीवनी के तीसरे अंक में स्वीकार किया है। मादाम बवुआ के प्रथम कुछ वर्ष सार्त्र के संसर्ग में दिवास्वप्न से बीते। यहां तक कि सार्त्र के बहुत करीब रहने के लिए उन्होंने अध्यापन कार्य काफी बाद में शुरू किया—"मैं आराम करना चाहती थी, उल्लसित क्षणों को उलीचना चाहती थी—सार्त्र के स्नेह में डूब जाना चाहती थी, तो सार्त्र ने कहा था कि तुम चिंतन के धरातल को क्यों छोड़ना चाहती हो? तुम नौकरी क्यों नहीं कर लेती—तुम तो पढ़ना

चाहती थी, लिखना चाहती थी।" परन्तु स्थितियां बदल चुकी थी जापान में मिलने वाला पद मिलने से पहले ही छूट गया—इस तरह दो वर्ष की छूट की आवश्यकता नहीं पड़ीं। मार्च 1931 में ल' आवरे के एक हाई स्कूल में एक अध्यापक के स्थान पर काम करना पड़ा और उसी वर्ष अक्टूबर में मादाम बवुआ को मारसेलीस में जाना पड़ा। ल' आवरे में पहली बार सार्त्र को आम जलसे में बोलने का अवसर मिला। यह वार्षिक पारितोषिक अनुष्ठान था और परंपरा थी कि अभिनन्दन वक्ता सबसे छोटा अध्यापक हो। सौभाग्य से यह परम्परा भी सार्त्र के हिस्से आई, जिसे वह सदा ही तोड़ता रहा। इस भाषण में छात्र, माता-पिता, संभ्रांत नागरिक, धार्मिक उन्नायक एवं बुर्जुआ समाज के माप-दंड आदर्शमय जीवन और ऊंचा उठाने वाले सामाजिक नियमों की आचार संहिता एवं उच्च व्यवहार सुनने के आदि थे। परन्तु प्रथम बार उन्हें धक्का-सा लगा कि सार्त्र का प्रारम्भिक भाषण आचार संहिता पर न होकर 'मोशन पिक्चर्स' पर था—

"आपके माता-पिता को विश्वास होना चाहिए कि सिनेमा बुरा नहीं है। वह कला है जो हमारे समय की सभ्यता को प्रतिबिम्बित करती है। जो आपको उस संस्कार के सौन्दर्य के बारे में बताएगी जिसमें आप रहते हैं। उस काव्यमय रफ्तार, मशीनों और अमानवीय तथा बृहद औद्योगिक शक्ति के बारे में बताएगी जो हमारी है। हम सब के लिए है। इसलिए अक्सर आपको सिनेमा देखना चाहिए।"

यह एक ऐसा तीव्र प्रहार था कि ल' आवरे का बुर्जुआ वर्ग इसे पचा नहीं सका। भाषण के दौरान छात्र तो खूब प्रसन्न रहे परन्तु उनके माता-पिता इसे कड़वे घूंट की तरह लेते हुए मुंह बनाते रहे। पर इस भाषण ने छात्रों को एक मित्र अध्यापक दे दिया था। जिसके बारे में वे खूब खुलकर बतिया सकते थे। सार्त्र भी छात्रों से आत्मीय हो आए थे। वे उन्हें सब बताते थे। अपने और मादाम बवुआ के बीच चल रहे स्नेह सूत्र को भी उनके सामने उन्होंने खोल दिया था। यही कारण था कि हर बुधवार को रूएं के लिए ट्रेन पकड़ने से पहले सार्त्र खूब प्रसन्न होकर क्लास के बाद जब अपना कोट पहनने स्टॉफ रूम में गए तो उसे बन्द पाया। प्रतीक्षा का अर्थ था कि ट्रेन का छूटना और इस सप्ताह मादाम बवुआ से न मिल पाना। यह उन्हें कदापि मान्य नहीं था। अतः कड़कती सर्दी में मात्र जैकेट पहने ही 'रूएं' की ओर निकल पड़े तो शरारती छात्र जिन्होंने उनके कोट को बन्द किया था, हंसे भी खिसियाए भी।

अपने इस सम्बन्ध को नाम देने के लिए मादाम बवुआ ने एक शब्द चुना था, 'मारग-नैटिक मैरिज' वस्तुतः औपचारिक तौर पर वे मादाम और श्रीमान एम० मारगनैटिक कहलाते थे। परन्तु शादी के नाम पर उन्होंने कभी किसी सामाजिक अथवा धार्मिक कारिंदे का फतवा नहीं स्वीकारा। शायदा यही इस रिश्ते की सबसे सशक्त कड़ी भी थी। यद्यपि सार्त्र के जीवन में अनेक महिलाओं ने प्रदेश किया। परन्तु मादाम बवुआ इन सब से बहुत ऊपर थी। धीरे-धीरे उन्होंने एक-सी पसन्द, एक-सी चयनशक्ति विकसित कर ली और रूढ़ियों तथा गली-सड़ी परम्परा के प्रति वे एक-सी निगाह से नफरत करने लगे। उनके अनुभवों एवं मनोभावों के विकास का आधार भावुक स्थितियां कम, तर्क ज्यादा था। अतः धीरे-धीरे वे पक्ष एवं विपक्ष को एक ही दृष्टि से देखने लगे। यह आत्मीय क्षणों की अप्रतिम पहचान थी। आम स्थानों सिनेमा-घरों, कहवाघरों, थिएटरों आदि में दोनों इकट्ठे ही होते। दोनों ने इकट्ठे ही फॉकनर एवं काफ्का के दुरूह आंतरिक संस्कार की अनसुलझी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया। नेपल्स, बारसेलोना, लन्दन, यूनान, हेम्वर्ग आदि स्थानों पर एक साथ प्रवास हुआ। फ्रांस में

जॉज संगीत की सुर-लहरियों को एक साथ सुना और एक साथ सुरा के प्यालों को एक ही घूंट में खाली किया। यद्यपि वे एक-दूसरे से शारीरिक तौर पर मेल नहीं खाते थे। मादाम बवुआ लम्बी,सुन्दर नीली आंखों वाली थीं तो सार्त्र छोटे कद के और कुछ भद्दी-सी शक्ल के थे। परन्तु दोनों के बीच अनूठा गहरा सम्बन्ध था। वस्तुतः वे समाज में रहते हुए भी अपने नियमों, सिद्धान्तों पर चलने में सक्षम एवं समर्थ हुए। शुरू-शुरू में इसका जबर्दस्त विरोध हुआ। परन्तु धीरे-धीरे युवा वर्ग का एक सशक्त कारवां इनके पीछे चल पड़ा। दो बुद्धिजीवी बुर्जुवा समाज के व्यवहार के विरोध में कमरे कसे थे। होटलों, रेस्तराओं एवं विश्रामशालाओं में रहने वाला अनव्याहा जोड़ा सारे समाज हो अगूंठा दिखा रहा था। परन्तु इन सारी स्थितियों में कभी-कभी मादाम बवुआ मानवीय अनुभूति से डगमगा जाती थीं। विशेषकर उनकी एक शिष्या ओल्गा ने अपने तर्क, शारीरिक सौन्दर्य और खुले व्यवहार से सार्त्र के मनोमस्तिष्क पर लावा-सा बिखेर दिया था। ये मादाम बवुआ के लिए बहुत दुखद दिन थे। जब वह सार्त्र को ओल्गा के प्रणय में घुलते देखती, मूक दर्शक की तरह खड़ी रहती। वस्तुतः तिनका-तिनका जोड़कर बनाया गया यह घरोंदा बहुत बड़े तूफान से बिखरने वाला था। बुर्जुआ समाज की ईर्ष्या, द्वेष और 'पूर्ण अधिकार' की भावना ने मादाम बवुआ को झिझोड़ कर रख दिया था। वह प्रतिक्रिया स्वरूप विद्रोह करने से पहले ही स्थिति को समझ गई। समझौते को मन ही मन दोहराया और इस सम्बन्ध को दूसरे दृष्टिकोण से देखने लगी। अब केवल मादाम बवुआ और सार्त्र का ही रिश्ता नहीं था, अपितु एक त्रिकोण उभर आया था। परन्तु शीघ्र ही यह तूफान थम गया। ओल्गा ने ल' आवरे के, सार्त्र के एक प्रिय छात्र से शादी कर ली।

1939 के आसपास सार्त्र बहुत स्वच्छन्द एवं मुक्त-भोगी हो गए। उनका सम्बन्ध अनेक नई लड़कियों से बन आया था। वह हर रात किसी नई नवेली के साथ बिताकर नया अनुभव पाने के लिए आतुर रहते। पैसा, शराब, भेंट आदि के साथ-साथ पत्र व्यवहार का एक ऐसा सिल-सिला चला कि दर्शन पत्रों में बहने लगा। प्रसिद्ध होटल मंटपारनासे इन दिनों मुख्य बसेरा था। परन्तु इन दुरूहताओं और विवादास्पद स्थितियों के बावजूद सार्त्र छुट्टियों में एक दो सप्ताह मादाम बवुआ के साथ अवश्य बिताते थे। वस्तुतः ओल्गा की उस घटना के बाद सार्त्र मात्र अनुभव ग्रहण करने में लगे थे। अन्यत्र अन्तर को चीर जाने वाली वैसी चाहत फिर कभी नहीं उभरी। वस्तुतः हर नए सम्बन्ध एवं पहचान के बारे में सार्त्र मादाम बवुआ को सदा पत्र द्वारा सूचित करते रहते थे, जिसके कारण मादाम बवुआ आश्वस्त रहीं। अपनी एक रंगीन रात्रि के बारे में सार्त्र ने मादाम बवुआ को पत्र लिखकर सूचित किया—

"मार्टिन एक अच्छी प्रेयसी साबित हुई है। यह पहला अवसर था कि मैंने एक भूरे बालों वाली लड़की के साथ रात बिताई।"

मादाम बवुआ का सार्त्र के साथ 51 वर्ष का सम्बन्ध संसार के श्रेष्ठतम रिश्तों में एक कहा जा सकता है।

[आकाशवाणी, अल्मोड़ा-उ० प्र०]

समीक्षा

अपने समय का सच

□ श्रीनिवास श्रीकान्त

यह **सुरेश धीगड़ा** की अड़तीस कविताओं का संकलन है जो सम्भवतः उन्होंने विभिन्न समयों पर लिखी हैं। कविताओं में वैविध्य होते हुए भी अधिकांश कविताएं अपने समय, अपने परिवेश और इतिहास की ज्वलन्त समस्याओं से आमना-सामना करती हैं। इनमें मसीहाई प्रवचन का नितान्त अभाव है और जो बयान हैं वे भी किसी आदर्श के मोहताज नहीं। कविताएं अपने समय के सच से सीधे टकराने की क्षमता रखती हैं और वहीं उनके उद्गम का स्रोत भी है।

'खण्डहर हुआ भील' इस संकलन की एक महत्वपूर्ण कविता है। अन्य कविताओं से बिल्कुल अलग-थलग। इसका फलक काफी व्यापक है। इसमें भारत के मूलनिवासियों का अतीत, संस्कृति और शोषित वर्तमान साथ-साथ उभरे हैं और इनकी आपसी तुलना हम सहज ही कर सकते हैं। बर्बर आततायियों ने आदिम मनुष्य से उसकी पहचान छीन ली है और उसे अपनी ही ज़मीन पर एक अवशेष बना दिया है। मनुष्य के इतिहास ने कलान्तर में अनेक करवटें ली हैं फिर भी उसके जीवन में कोई सकारात्मक बदलाव नहीं आया है और न कोई बेहतर आर्थिक विकल्प उसके अभावों को भर पाया है। उसकी स्थिति पहले से भी ज्यादा बदतर है। इस कविता को हम आदिम जीवन की दर्द भरी गाथा कह सकते हैं।

'एक अर्थ-कविता' में कवि मूलतः 'मैं क्या हूं ?' इस अनादि प्रश्न का अपनी कालिक संगति से मिलान करता है और इस प्रक्रिया में प्रश्न की शाश्वतता सहज ही स्थानीय आग्रहों की ओर झुकती है। इस कविता में गांधी के अर्थतंत्र के गुम्बज में घुटते हुए समाज की विडम्बना का चित्रण है। यह एक ऐसा गुम्बज है जिसमें आवाज़ गूंजती है लेकिन प्रश्न वहीं-का-वहीं बना रहता है, अनुत्तरित—

> **प्रतिध्वनियाँ गूंजती हैं लगातार/और**
> **चमत्कारों के खोल में/नत हुआ आदमी**
> **गदगदाया-सा जीभ अर्पण कर/गूंगा हो जाता है**

'अगली सुबह के इन्तजार में' ऐसे औसत आदमी का जिक्र है जो 'सिसिफ़स' की तरह अर्थहीनता ढोने के लिए पूरी तरह अभिशप्त है। उसका तीर स्वयं अपनी ही ओर लक्षित है और उसकी जिन्दगी एक 'ख्वाबे-फ़रामोश' बन कर रह गयी है—

> **मैंने हर बार छोड़ा है/अपने कन्धे पर साधकर एक बाण**
> **और पाया है खुद को/अपनी टाँगों की कमान में फंसा**
> **साधे हुए अपनी ही ओर**

आज के आम आदमी की यही स्थिति है। उसे इस अहर्निश त्रासदी का पूरा एहसास है। इन पंक्तियों से कुल मिला कर आज के आदमी की जो तस्वीर बनती है उससे अनायास ही एक अमूर्त चित्र बन गया है जो पूरी विडम्बना को दर्शनांगिक बना देता है। 'हर रोज' में भी यही स्थिति है मगर एक नयी व्याख्या के साथ। यहां मानवीय स्थिति का निर्ममता से पर्दाफाश किया गया है तथा यह कविता मात्र एहसास की मानसिकता से आगे बढ़कर मोहभंग के लिये जमीन को हमवार बनाती है।

'युद्ध की परिभाषा', 'युद्ध खत्म होगा युद्ध से' तथा 'युद्ध और अंतरिक्ष' इन तीनों कविताओं में युद्ध को अनेक रूपों में देखा गया है। युद्ध वही नहीं जो हम अजनबी दुश्मन के विरुद्ध लड़ते हैं। युद्ध वह भी है जो हम अपने अन्दर और अपने ही लोगों के साथ लड़ते हैं महाभारतीय अतीतता का प्रतीक। 'युद्ध खत्म होगा युद्ध से' और 'युद्ध और अन्तरिक्ष' दोनों एक दूसरे के विमुख लेकिन एक दूसरे से जुड़वां कविताएं हैं। इनके माध्यम से आज के सार्वभौमिक शान्तिगामी मानव समाज की परिकल्पना को दोहराया गया है। युद्ध की इन तमाम प्रतीक-कथाओं को हम आधुनिक संदर्भ में सकारात्मक उपलब्धि ही कहेंगे।

'आग, गोली और मौत, में कवि ने मृत्यु के अन्धेपन को चित्रित किया है जो न केवल अनागत की तरह है वल्कि उस दर्शन की तरह भी जो किसी को पहचानता नहीं। पर वह दर्शन भी नहीं, उसे दर्शन का नाम भर दे दिया जाता है—

मौत ऐसे क्यों आती है कि तुम उसे दे देते हो दर्शन का नाम
और वह ले जाती है तुम्हारे हस्ताक्षर/क्रम हीन

इस कविता में मृत्यु के माध्यम से आज के आतंकवादी माहौल का चित्रण है जो जीवन, संस्कृति, सभ्यता एवं एकत्व जैसे सभी बुनियादी तत्वों को एकाएक तहस-नहस कर देता है। मौत किसी को पहचानती नहीं और न अच्छे-बुरे में तमीज कर पाती है।

'समुद्र' नामक कविता में सार्वभौमिक बोध के दर्शन होते हैं। एक समुद्र जीवन भर मनुष्य के साथ-साथ रहता है, उसके आसपास ठाठें मारता हुआ। मनुष्य की लघुता इसी से एकाकार होकर कभी-कभी भव्य हो उठती है। समुद्र को लेकर अज्ञेय ने 'सागर मुद्रा' की कविताएं लिखी थीं। यह कविता भी उसी प्रयोजन को पूरा करती है मगर अज्ञेय जहां अपनी कविताओं में आध्यात्मिक सूक्ष्म बन जाते हैं वहीं धींगड़ा जी का यह समुद्र मनुष्य के विकास और उसकी निरन्तर गतिशीलता का परिचायक है। समुद्र में धींगड़ा जी की कविता अपनी चिरपरिभाषित भूमिका को छोड़ती दिखायी देती है और 'निजी' पहचान को मनुष्य की पूरी दुनिया के साथ जोड़ती है जिसमें व्यक्ति एक अकिंचन क्षणानुभूत सत्य होते हुए भी पूरी कायनात में अपनी एक अलग हस्ती रखता है जिसके बिना इस समुद्र का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

कुछ कविताओं में धींगड़ा जी का कवि अपनी पूर्व और आगे की पीढ़ी के बीच सेतु-धर्म से परिपूर्ण नज़र आता है। उसे पूर्व की पीढ़ी से शिकायत है जिसने उसे अपने तंत्र के जूए के नीचे कुण्ठित बना दिया। यही कारण है कि 'अपने होने के भय' में वह असहज होकर यह कह उठता है—

प्रश्न, प्रश्न, प्रश्न

नहीं खोजने दिये तुमने/उत्तर
त्रस्त मैं आज भी
भयभीत हूं अपने ही होने से

बीच की जिस पीढ़ी का उपरोक्त कविता में ज़िक्र है उसे हम दूसरे विश्वयुद्ध के आस-पास की पीढ़ी कह सकते हैं। इस पीढ़ी को पूर्ववर्ती पीढ़ियों ने बौना (ड्वार्फ़) बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद हमारे स्वातंत्र्योत्तर इतिहास में यह पीढ़ी अब भी एक प्रश्न-चिह्न बनी हुई है—बरगद सरीखे प्रतिभावान और किसी को न पनपने देने वाले अग्रजों के हाथों शोषित। मगर यही पीढ़ी अपनी उत्तरवर्ती पीढ़ी के दायित्वों के प्रति भी पूरी तरह सजग है—अपनी तमाम असफलताओं के बावजूद—

मैं तुम्हारे अधिकारों में इजाफा नहीं कर सकूंगा
उत्तराधिकारों की आड़ में तुम्हें सौंप दूंगा
जिल्लत और बेबसी
तब तुम अपने पूर्वजों की नाकामियों का बोझ
ढोने में सक्षम हो जाओगे, मेरे बच्चे

कुछ कविताएं नितान्त आत्मिक-सी लगती हैं लेकिन इन्हीं कविताओं में कहीं आत्मीयता का आकर्षण भी है जो इन्हें नितान्त व्यष्टिगत होने से बचाता है। 'प्रश्न' ऐसी ही एक कविता है जिसके छोरों को शिराओं से लेकर 'घने जंगल के अछोरों में' खुलती पगडण्डियों के विस्तार में बिम्बित होते देखा जा सकता है। 'फिलहाल नहीं', 'पिछली बर्फ़ के लिये', 'मुक्ति', 'बुढ़ाना' इसी श्रेणी की कविताएं हैं।

'प्रकृति दृश्य' से जुड़ी बारह क्षणिकाएं भी इस संकलन में हैं। इनमें 'हाइकू' की आत्मा को पकड़ने की छटपटाहट है। ऐसी कविताओं का अपना एक गणित होता है मगर बिम्बों की भारकता और गाढ़ापन ही इनकी आत्मा है। धींगड़ा जी की इस शैली की कविताओं में यद्यपि उस तीव्रता की कमी है इसीलिए इनका गणित सही होते हुए भी प्रायः ये पाठक को इतना प्रभावित नहीं कर पाती। फिर भी इस अनुक्रम की नवीं और दसवीं कविताएं दृष्टव्य हैं

(क) झाड़ी में छिपा/कठफोड़वा उड़ा
कैमरे से आँख चुरा
(ख) राजपथ किनारे खड़ा/कटा ठूंठ
समाधिस्थ योगी

कवि की कूची कुछ शहरों पर भी फिरी है। पहाड़ी शहरों में शिमला (?) और मैदानी शहरों में दिल्ली इस संकलन के कुछ प्रामाणिक रेखांकन हैं।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि 'खण्डहर हुआ भील' की कविताएं अपनी आसपास की जिन्दगी में रची-बसी कविताएं हैं। इनमें हम अपने समसामयिक सत्य को अनेक आयामों में प्रस्फुटित होते देख सकते हैं।

खण्डहर हुआ भील (कविता संग्रह) : **सुरेश धींगड़ा**, प्रकाशक : जयश्री प्रकाशन, दिल्ली पृष्ठ : 72, मूल्य : तीस रुपये।

ख़ौफनाक लहरों पर कविता

□ पी० सी० के० प्रेम

हिमाचल प्रदेश के युवा कवियों में आनन्द एक ऐसे कवि हैं जो पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से कविताएं लिख रहे हैं लेकिन इन्होंने लम्बे अन्तराल में भी बहुत कम कविताएं लिखी हैं जिसके फलस्वरूप 'आपकी गंध' इनका पहला कविता-संग्रह है। इसे कवि का धीरज भी कहा जा सकता है और मंदगति भी।

आनन्द की कविता में आदमी के जीवन को तराश कर उसका ऐसा भविष्य देखने का सपना है कि सब समृद्ध, खुशहाल और आन्तरिक शान्ति से भरपूर हो। कवि की दृष्टि में आधुनिक व्यक्ति अस्तित्वहीन, सारहीन एवं भावहीन हो चुका है। आदमी का परिवेश इतना संकीर्ण है कि सांसों का लेखा-जोखा कर अपने ऊपर ही अहसान जताने लगा है। भौतिक दृष्टि आदमजात की समग्रता को नकारते हुए उसे मूल्यहीन बनाती जा रही है—ऐसे में कोमल भावनाओं का स्खलित होना स्वाभाविक है। अवचेतन पर बैठी किसी मूक सम्वेदना के सहारे कवि यथार्थ के रेगिस्तान पर आकर आदमी के पेट को खाली-खाली देखता है और यहीं से आदमी युद्ध का बिगुल बजाने को प्रेरित होता है। आनन्द का कवि गरीबी, शोषण और लाचारी देखकर विद्रोही हो उठता है। राजनीति और व्यवस्था की विषमताओं और विद्रूपताओं में, आम आदमी वेदना, भाव, एवं मूल्यों के धरातल पर खोखला हो चुका है। उसमें संत्रास का चाकू काट-काट कर आदमी को अपने से ही मोहभंग होने की स्थिति की ओर धकेल रहा है। व्यवस्था की नग्नता आदमी को नंगा करती जा रही है। घृणा, अवसाद, क्रोध, आक्रोश और हीनता के भाव पोषित हो रहे हैं। कवि इस सब के प्रति सचेत है परन्तु समाधान खोज निकालने में असमर्थ भी है।

आनन्द का कवि मज़दूर की दयनीय अवस्था पर व्याकुल है। व्यवस्था को दोषी ठहराता है और इस प्रयास में है कि इस मानसिकता को उकेर कर क्रान्ति लाए लेकिन क्रान्ति के शब्द सारहीन हो गए हैं। शब्द भीड़ इकट्ठी तो कर सकते हैं लेकिन उसे सार्थक बनाकर दिशा नहीं दे सकते। कवि बड़ी संजीदगी से संकेत देता है कि आज का आदमी शब्दों को जोड़कर अपने आपको संज्ञा और सर्वनाम देता है लेकिन अस्तित्व देने में नाकामयाब रहता है। खेतों और खलियानों में कार्यरत किसानों से लेकर सड़कों और फैक्टरियों में जूझते मज़दूरों तक वह अपनी दृष्टि फैलाता है। उनके कदमों की ज़मीन मुट्ठी में उठाकर सूंघता है और महसूसता है कि खाली पेट और अस्थि-पिंजर हुए आदमी की गंध सामाजिक ढांचे और राजनीतिक व्यवस्था को प्राण देती है, और हर कोई उन्हीं की शक्ति से अपनी बुद्धि की डींग मारता है।

इस प्रकार आनन्द कभी 'वाम कविता' का जाल बुनते हैं और ज़िंदगी की कटुताओं का नग्न चित्र पेश करते हैं तो कभी दार्शनिक अन्दाज़ में आदमी की खुशी के लिए सपने संजोने में निमग्न होने लगते हैं। कवि आदमी को जीवन की कटु साजिशों से आगाह करता है क्योंकि

व्यक्ति की गरिमा का क्षरण जितना इस काल में हुआ है यह अपने आप में बड़ी चिन्ता का विषय है।

प्रतीक ज़िंदगी से उठाए गए हैं इसीलिए कविताएं व्यक्ति और समाज से जुड़ी हैं। आनन्द की कविताओं में—आग, आंख, औरत, सड़क, सूर्य, वक्त, गंध, तंग, सागर, नदिया, आदमगंध, पेड़, चौराहा, ज़ख्म, जंगल, भूख, रोटी, आकाश, बादल, गिद्ध, पीड़ा, अर्थ, अजगर—आदि शब्दों का बहुलता में प्रयोग हुआ है।

"दबोचे हुए गले का चेहरा" से "आग की गंध" तक की यात्रा अनुभवों के कड़वेपन से गुज़रती है। भोगे हुए को, शब्दों में ढालकर कवि ने संवेदनशील हृदय को छूने की कोशिश की है। "दबोचे हुए···"का आदमी दूसरे की मौत में अपना जन्म देखता है लेकिन जब आभास होता है कि वह स्वयं को मार रहा है तो उसके हाथ भयाक्रांत हो शिथिल पड़ जाते हैं। "आग की गंध" एक व्यापक अर्थ लेकर ईर्ष्या, द्वेष एवं विद्रोह के साथ-साथ सृजन का अहसास देती है। वह प्रलयकारी भी है और सृष्टि की संरचना में भी उसका हाथ है और आदमी उससे अलग नहीं हो सकता। जंगल बन गया शहर में विचित्र है कि विरोधाभास से उगते जीवन का अस्तित्व कैसे शमशामी आकृतियों को अंकित करते हुए अपनी संज्ञा तक खो जाता है। "इन दिनों मौसम" भी इन्सानियत की व्यथा का रोना है—**"अब मेरा देश/गरीबी से नहीं/ फूल-मालाओं से/दबकर मरेगा।"** "घेराव में" हम धीरे-धीरे व्यतीत होते हैं "थम गया शब्द ज्वार" में कवि अपनी फेलयर को नज़दीक से देख रहा है। पेट से उठते दर्द के बगूले उसे व्यथित करते हैं। "सियान पर झुकते सूरज" की ट्रेजड़ी यह है कि वह उगता है, जलता है, जलाता है और अन्धेरे में खोते हुए आदमी को चेतावनी दे जाता है। व्यक्ति के जीवन में अनगिनत जोखम हैं और उसे संघर्ष करना है, अपने अस्तित्व को रोपने के लिए। **"यह कथा/उफान खाते/अरब सागर की है/खौफनाक लहरों पर/कविता लिखते सत्यमंगल की है।"** "लहरों से जूझता वह बूढ़ा" का यही संदेश है।'

प्रश्न कुरेदता है कि दर्द का जखीरा क्या जीवन को अर्थ देता है? साहूकार मानसिकता व्यक्ति को सोखती है—दबोचती है पर ज़िंदा रहने के लिए चेलैंज भी करती है। "साठवीं सीढ़ी तक" पहुंच कर कवि यहां कहता है। आश्वासनों का जमावड़ा आदमी को खाली, मूल्य-हीन और अर्थहीन बना देता है।

"लड़की अपाहिज है" यह कविता व्यवस्था, संविधान और कर्महीन देश की अन्तर्व्यथा को व्यक्त करती है।

"राज पथ पर/मरी हुई पाई गई/एक गूंगी अपाहिज लड़की अनुमान है/उसकी मृत्यु गहरे सदमे से हुई है/लाश शिनाख्त के लिए/संसद के सामने रखी गई है।"

इस तरह की कविताएं जहां अपने समय की गतिविधियों पर प्रहार करती हैं वहीं संसद जैसे शब्दों के साथ 'धूमिल' की छाया साथ चली आती है। कवि का दुख यह भी है कि सभ्यता और संस्कृति का ढिंढोरा पीटने वाला आदमी शोषण और हैवानियत का स्टिकर अपने मुंह पर चिपकाए घूम रहा है।

सड़क पर बिछे और घुटन से जिंदगी गुजारते व्यक्ति को रोटी की खोज है। उसकी अस्मिता पर आक्रमण है। उसका घर नहीं है। वह इतिहास नहीं बन सकता। आनन्द का कवि कुछ इन्हीं सवालों में उझलकर समाधान खोजने के लिए व्यग्र है।

आग की गंध (कविता संग्रह) **आनन्द;** गणपति प्रकाशन, हापुड़, मूल्य : 25/-

नारी के रूप

☐ भरतराम भट्ट

'नारीगीतम्' रचना के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें नारी के विभिन्न रूपों, शक्ति-सामर्थ्य तथा अन्यान्य नारी-गुणों का विवेचनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। नारी के ऐसे रूप और अगुणों की चर्चा भी, जो अपेक्षा की परिधि में नहीं आती।

रचना के पूर्वार्ध का आठवां श्लोक नारी के भिन्न-भिन्न रूप एवं शक्ति-सामर्थ्य, गुणों को उजागर करता है। नारी को वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती तथा विश्व पालक लक्ष्मी और शक्ति स्वरूपा महामाया के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अर्थात् ब्रह्मा के ब्रह्मत्व, विष्णु की विश्व पालन शक्ति और शिव की संहार-शक्ति का रहस्य महाशक्ति की अनन्त-शक्ति में निहित है। इस प्रकार वह सत्व, रज तथा तम-तत्वों की नियामक है।

नारी के उक्त वैशिष्ट्य वर्णन के साथ ही रचनाकार उसके उस रूप का वर्णन करने से नहीं चूकता, जो तत्व-ज्ञानियों को भी उदरस्थ कर देता है। रचना के पूर्वार्ध का एक सौ बारहवीं श्लोक इसी बात को पुष्ट करता है।

'उत्थापयन्ति विरसेऽपि मनस्तरंगान्, प्रज्वालयन्ति दहनेन विनाऽपि देहम'

यानी नारी का कामुकतापूर्ण रूप नीरस मन को भी उत्तेजित कर देता है और बिना आग के शरीर को जला देता है। तो नारी का यह रूप वही रूप है जो अपेक्षा की परिधि से बाहर है।

माता, भगिनी तथा पत्नी, सुता—ये सारे स्वरूप नारी के ही हैं। विश्व की हर नारी उसी व्यापक शक्ति-स्वरूपा नारी के अंश से संभूत है। यहां तक कि मनुष्यतेर प्राणियों में भी नारी चेतना, स्वभाव एवं गुण वाला रूप उसी महाशक्ति का अंश है।

कहने का तात्पर्य यह है कि नारी का जो समष्टिगत चिन्तन 'नारी गीतम्' के रूप में व्यक्त हुआ है वह स्त्री-पुरुष की एकता और समरसता की व्यावहारिक अनुभूति को सत्यापित करता है, जिसके बिना पूर्ण सामाजिक क्रान्ति की बात करना अव्यवहारिक है।

यह बात हमारे पूर्ववर्ती मनीषियों ने अनेकशः उक्तियों द्वारा विभिन्न रचनाओं में स्पष्ट की है। उदाहरण के रूप में निम्न पक्तियां उद्धृत करनी पर्याप्त होंगी—

सर्व मंगल मांगल्ये शिवे [सर्वार्थ साधिके !
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तु ते।

सर्व मंगल मयी, शिवरूपा सर्व उद्देश्यों की साधिका तथा शरण शीला, सत्व, रज और तम रूपा, प्रकाशमयी और नारायण की महती शक्ति रूपा तुम को नमस्कार है।

उक्त रचना में ही नारी का अनन्त महिमा-गान स्फुटित होता है। उसकी विराटता, संरक्षण-शक्ति एवं प्रदातृ-शक्ति और भी बहुत कुछ उसकी वरेण्यता को मनः पटल पर अंकित करता है।

दूसरी ओर पंचतंत्र कार का यह कथन भी कम रोमांचक नहीं।

'एता मदयन्ति विडम्बयन्ति, विश्वासयन्ति परं न च विश्वसन्ति'—ये नारी रूप पुरुष को मदहोश कर देते हैं, विडम्बना में डाल देते हैं और स्वयं पर विश्वास करवा लेते हैं परन्तु दूसरों (पुरुषों) पर विश्वास नहीं करते।

यही बात नारीगीतम् में भी अलंकारिक रूप से कही गई है। याने नारी कोशल्या, देवकी हैं जो राम, श्री कृष्ण को जन्म देती हैं। वह अनुसूया, सावित्री है। वह आर्क आफ जान, रजिया सुलतान और इन्दिरा गांधी है। त्रिभुवन मोहनी है, अनहोनी है। याने नारीगीतम् के दो सौ छप्पन पद्यों में नारी के विभिन्न संदर्भ, प्रसंग, सौंदर्य, अनुसंग, औदार्य सुकौमार्य्य एवं काठिन्य की चर्चा हुई है। तदापि नारी के किसी अन्यतम रूप का निदर्शन प्रस्तुत हुआ हो, ऐसा नहीं लगता।

नारीगीतम् के अध्ययन से लेखक के संस्कृत-भाषा, व्याकरण ज्ञान, शब्द एवं वाक्य संयोजना, छन्द-अलंकार प्रयोग विधि की शक्ति का परिचय सहज ही विज्ञ पाठकों को मिल जाता है। संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए संस्कृत पद्यों की संस्कृत-व्याख्या भी दी गई है। हिन्दी व्याख्या कार ने अलंकारादि का निरूपण पांडित्य-पूर्ण ढंग से किया है। लगता है रचना का महत्व अलंकारों में छिपा है रचना के पांडित्य में नहीं! आंग्ल-भाषा व्याख्या से रचना की उपयोगिता बढ़ी है।

नारीगीतम्, (संस्कृत काव्य) **डॉ० शंकरदेव अवतरे**, साहित्य सहकार, ई-10/4, कृष्ण नगर, दिल्ली-51, संस्करण : 1986, मूल्य : 80/- रुपये।

आयोजन

उत्तर क्षेत्रीय नाट्य समारोह : शिमला

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी 'युवा रंग कर्मियों को प्रोत्साहन' योजना के तहत क्षेत्रीय नाट्य समारोह गत पांच वर्षों से देश के विभिन्न स्थानों पर आयोजित करती आई है। इसके लिए देश को चार भागों में बांटा गया है। युवा रंगकर्मियों की सृजनात्मक प्रतिभा एवं ऊर्जा को समर्थन प्रदान करने के उद्देश्य से आयोजित ऐसे समारोहों में अनेक नाट्य दल अपने नाटक प्रस्तुत करते हैं और श्रेष्ठ प्रस्तुति को राष्ट्रीय नाट्य समारोह में शामिल किया जाता है।

इस बार 21 से 25 सितम्बर तक शिमला में भाषा एवं संस्कृति हिमाचल प्रदेश के सहयोग से उत्तर क्षेत्रीय नाट्य समारोह का आयोजन किया गया। इस पांच दिवसीय समारोह में तीन क्षेत्रीय भाषाओं के चार प्रायोगिक नाटक प्रस्तुत किए गए और इन नाटकों के मंचन पर परिचर्चाओं का भी आयोजन हुआ।

पहला नाटक **मोहणा** (पहाड़ी) अंकुर कला मंच मंडी द्वारा सुरेश शर्मा के निर्देशन में प्रस्तुत हुआ। बिलापुर का एक प्रसिद्ध लोकगीत है मोहणा, जिसमें मोहणा नामक एक ऐसे व्यक्ति के उत्सर्ग को गाया आता है जो निरपराध होते हुए भी अपने बड़े भाई को बचाने के लिए फांसी पर चढ़ जाता है। इसी गीत की कथा पर आधारित इस नाटक का आलेख योगेश्वर शर्मा ने तैयार किया। इसमें बांठड़ा, ठोडा और भगत जैसे क्षेत्रीय लोक नाट्य की शैलियों का एक तरह का सम्मिश्रण तैयार करके मोहणा का मंचन हुआ।

दूसरे नाटक **बाल-भगवान** (हिन्दी) का मंचन आदि कला मंच अंबाला द्वारा एम० आर० धीमान के निर्देशन में हुआ। कथाकार स्वदेश दीपक की इसी शीर्षक की चर्चित कहानी पर इस नाटक का आलेख भी उन्हीं का था। धर्म की आड़ में समाज में व्याप्त अनाचार पर तीखी चोट करने वाले इस नाटक में बाल-भगवान की भूमिका में मोहिन्दर पाल शर्मा का अभिनय बहुत प्रभावशाली रहा। कलाकार ने भूमिका को इस कदर आत्मसात किया कि लगता ही नहीं था कि यह कोई ठीक-ठाक याने सामान्य आदमी भी होना। लेकिन बीच में कुछ शिथिलताओं के रहते पूरी प्रस्तुति यथापेक्षित प्रभाव नहीं बना सकी।

इसमें भी उत्तर भारत की लोक नाट्य शैलियों की छाया स्पष्ट थी। विशेष रूप से लोकसंगीत का उपयोग प्रभावी रहा।

तीसरा नाटक **अक नन्दन** (कश्मीरी) कलाकार रैपट्री सर्किल अनन्तनाग कश्मीर द्वारा बशीर-यासीर के निर्देशन में मंचित हुआ। यह एक पारम्परिक आख्यान का नाटक है। इसकी कथा मनुष्य के दैहिक मोह से जन्मी भौतिकवादी समस्याओं का दार्शनिक समाधान प्रस्तुत

करती है। कश्मीर की लोक नाट्य शैलियों का इसमें उपयोग किया गया।

मृच्छकटिक (अवधी/बृज) पूर्वाभ्यास नाट्य संस्थान, लखनऊ द्वारा नवीन शर्मा के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया। 'मृच्छकटिक' संस्कृत का एक ऐसा नाटक है जो संस्कृत नाटकों में अलग पहचान रखता है। क्योंकि इसका कथ्य शेष संस्कृत नाटकों से इस दृष्टि से भी आगे निकल जाता है कि इसका यथार्थ आज के यथार्थ से भी काफी कुछ जुड़ जाता है। यह कोई आदर्श का आख्यान नहीं बल्कि जीवन के अधिक करीब है। 'शूद्रक' के इस मूल संस्कृत नाटक का अवधी रूपांतर उषा शर्मा ने किया। प्रस्तुति के स्तर पर भी इसमें प्राचीन और अर्वाचीन को जोड़ने का प्रयास किया गया। एक ओर उत्तर प्रदेश की लोक रंग शैलियों का उपयोग हुआ तो दूसरी ओर पारंपरिक संस्कृत नाटकों की छाया भी कायम रही।

इन सभी नाटकों पर बहस के बहाने समकालीन रंगमंच पर बहु आयामी चर्चाओं का भी आयोजन हुआ, जिनमें आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए रंगमंच के भारतीय मुहावरे की तलाश पर बराबर ज़ोर दिया गया। इन परिचर्चाओं के दौरान सर्वश्री वी० एम० शाह, जे० एन० कौशल, के० डी० त्रिपाठी व प्राण किशोर आदि रंगमंच विशेषज्ञों ने समकालीन रंग-मंच के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। बहस में हिमाचल प्रदेश के विभिन्न स्थानों तथा प्रदेश के बाहर से आए अनेक युवा रंगकर्मियों ने भाग लिया।

हिन्दी दिवस समारोह : नाहन

राज्य स्तरीय हिन्दी दिवस समारोह का उद्‌घाटन 14 सितम्बर को श्री अजय बहादुर सिंह विधान सभा सदस्य ने किसान भवन नाहन में किया। उन्होंने राष्ट्रीय एकता तथा सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए लेखकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख करते हुए राष्ट्र भाषा हिन्दी के विकास के लिए सरकार के निश्चय को दोहराया। उन्होंने राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करते हुए राष्ट्रीयधारा में जुड़ते जा रहे हिमाचल के हिन्दी कवियों से आह्वान किया कि समाज के उत्थान के लिए वे सजग और सक्रिय रहें।

इससे पूर्व विभाग के निदेशक श्री सी०आर० बी० ललित ने मुख्य अतिथि तथा साहित्य-कारों व श्रोताओं का स्वागत करते हुए विभाग द्वारा राजभाषा हिन्दी तथा साहित्यिक हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं का विवरण दिया। उन्होंने कहा कि प्रदेश में हिन्दी बराबर विकसित हो रही है क्योंकि हिन्दी हमारे प्रदेश की राजभाषा है। इसी के माध्यम से यहां के लेखक हिमाचली संस्कृति को उजागर कर रहे हैं। अतः प्रदेश का भाषा विभाग हिन्दी साहित्य के लिए भी विभिन्न प्रकार से मंच उपलब्ध करवाता है।

इसके उपरान्त दो दिवसीय आयोजन के कार्यक्रमों का परिचय सहायक निदेशक श्री जगदीश शर्मा ने दिया। प्रथम सत्र की अध्यक्षता श्री भारत भूषण, अतिरिक्त जिलाधीश सिरमौर ने की। इसमें हिमाचल के चार नवोदित कहानीकार—श्री अरुण भारती, सुश्री देवना ठाकुर, कुमारी स्नेहलता भारद्वाज तथा शान्ता वर्मा ने अपनी कहानियां पढ़कर सुनाईं। जिनकी समीक्षा श्री सुरेश सेठ तथा श्री विजय सहगल ने की। इन दोनों ने पढ़ी गई कहानियों पर यह राय प्रकट की कि सभी कहानियां हिमाचल के आंचल और ठेठ ग्रामीण धरती से जुड़ी हुई हैं जिनमें

यहां की माटी की गन्ध तथा संस्कृति की झलक है।

इसी दिन द्वितीय सत्र में कविता गोष्ठी का आयोजन हुआ जिसकी अध्यक्षता श्री सुरेश सेठ ने की। प्रदेश के पांच नवोदित कवि मेलाराम शर्मा, अलका चौहान, करतार सिंह, प्रभात कुमार तथा ईना कंवर ने अपनी तीन-तीन कविताओं का पाठ किया, जिनकी समीक्षा डॉ० अनिल राकेशी और श्री राम दयाल नीरज ने की। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि कवि गोष्ठी में उतने अच्छे कवि नहीं आये जितने कहानी गोष्ठी के लेखक थे, परन्तु फिर भी कुल मिलाकर इन कविताओं में अच्छी सम्भावनाओं के दर्शन होते हैं। यह बात अलग है कि इसमें भाषा, शब्द चयन और बिम्ब योजनाओं का अधकचरापन दिखाई पड़ता है।

सायंकालीन सत्र में कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता श्री राम दयाल नीरज ने की। कवि सम्मेलन में प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों से आमन्त्रित कवियों ने भाग लिया जिसमें प्रमुख थे सर्वश्री चतुर सिंह, प्रकाश पन्त, नरेन्द्र अरुण, केशव, ज़िया सिद्दीकी, सत्येन शर्मा, अनिल राकेशी और कैलाश भारद्वाज। कवि सम्मेलन का संचालन श्री जगदीश शर्मा ने किया।

१५ सितम्बर, १९८८ को दो सत्रों में दो शोध पत्र प्रस्तुत किये गये। पहला शोध-पत्र डा० बंशीराम शर्मा ने 'पौराणिक हिमाचली लोक जीवन और संस्कृति' विषय पर प्रस्तुत किया। इसमें हिमाचली संस्कृति के पौराणिक आधारों का विषय विवेचन तथा हिमाचली जन-जीवन को चित्रित किया। परिचर्चा में सर्व श्री खुशीराम गौतम, अमर देव आंगीरस, राजेन्द्र राजन तथा वेद प्रकाश अग्नि और आचार्य शुकदेव शर्मा ने भाग लिया। द्वितीय सत्र में डा० ओम् प्रकाश सारस्वत ने 'हिमाचल का हिन्दी निबन्ध लेखन' नामक विषय पर अपना विषय पत्र प्रस्तुत किया। इन्होंने हिमाचल के हिन्दी निबन्ध लेखन की विभिन्न धाराओं और वर्गों का उल्लेख करते हुए यहां इस बात पर बल दिया कि हिमाचल में अधिकतर ललित निबन्ध का लेखन हो रहा है केवल शोध प्रबन्ध के स्तर पर ही वास्तविक निबन्धों का लेखन माना जा सकता है। इस सत्र की अध्यक्षता डा० वेद प्रकाश अग्नि ने की तथा इसमें हेम राज कोशिश, सत्यापुरी, हरीश पन्त तथा अनिल राकेशी आदि ने भाग लिया। इन दोनों सत्रों का संचालन स्थानीय जिला भाषा अधिकारी आचार्य सीताराम ने किया।

समारोह के अन्तिम सत्र में श्री भारत रत्न भार्गव के हिन्दी नाटक 'शास्त्र' का मंचन किया गया जिसका निर्देशन श्रीमती अमला राय ने किया। इसमें भाग लेने वाले सभी कलाकार स्थानीय थे। दर्शकों ने नाटक की प्रशंसा की। इस सत्र की अध्यक्षता विधायक श्री अजय बहादुर सिंह ने की और मुख्य अतिथि थे जिलाधीश सिरमौर श्री भीमसेन। नाटक की समीक्षा श्री देवेन जोशी और श्री दीपक भण्डारी ने की।

अध्यक्षीय पद से बोलते हुए श्री अजय बहादुर सिंह ने इस बात की सराहना की कि पहली बार इतने व्यापक स्तर पर हिन्दी दिवस का आयोजन किया गया जिसमें रचनाओं के पाठ के बाद परिचर्चा, लेखक गोष्ठी तथा नाटक मंचन जैसे अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए।

*** उषा-अनिरुद्ध चित्र सीरीज कथा के अन्तर्गत सामने के चित्र में युद्ध का ही एक दृश्य है। इसलिए कथा पिछले अंकों से आगे नहीं बढ़ेगी।**

बाण और कृष्ण के बीच युद्ध का एक और दृश्य

संग्रहालय चंबा में संग्रहीत उषा-अनिरुद्ध सीरीज (1770-75 ई.) का बाईसवां चित्र